सप्तम परिच्छेद

न्याय-दर्शन

पूर्व के परिच्छेदों में कहा गया है कि 'ईश्वर' तथा 'आत्मा' के पृथक् अस्तित्व को कुछ दार्शनिकों ने नहीं माना। इन्हें न मानने के लिए इन मतों के आदि प्रवर्तकों की द्वेष-बुद्धि, अज्ञता, घृणा, आदि ही कारण थे, यह कहना बहुत उचित न होगा। मेरी समझ में तो उनके दृष्टिकोण का ही यह फल था कि उन्हें 'ईश्वर' तथा 'आत्मा' के पृथक् अस्तित्व को मानने की आवश्यकता ही नहीं हुई। किन्तु व्यावहारिक जगत् में अविद्या के प्रभाव से, निरपेक्ष भाव से, गूढ़ तत्त्वों के रहस्य को समझने में सभी समर्थ नहीं हो सकते। उन्हें प्रति दिन व्यवहार के लिए 'ईश्वर' और 'आत्मा' की अपेक्षा होती है। इनके बिना साधकों की जीवनयात्रा प्रगतिशील नहीं हो सकती तथा इनके अस्तित्व को स्थूल जगत् में पृथक् रूप से न मानने से साधारण लोग धर्म-कर्म से च्युत हो कर पाप-पुण्य के विचार को छोड़ देंगे और समाज भ्रष्ट हो जायगा। अतएव यह आवश्यक है कि सर्वसाधारण के कल्याण के लिए, 'आत्मा' तथा 'ईश्वर' का पृथक् अस्तित्व माना जाय। इस बात को ध्यान में रखते हुए तत्त्व की खोज में साधक की दार्शनिक विचार-धारा अग्रसर होती है।

न्यायदर्शन की पष्ठभूमि

ईश्वर तथा आत्मा का पृथक् अस्तित्व

यद्यपि चार्वाकों के अनन्तर बौद्धों की विचार-धारा ने एक विशिष्ट रूप धारण किया और उसे चरम सीमा तक ले जा कर 'निर्वाण' या 'शून्य' में लय कर दिया, तथापि यह विचार-परम्परा साधारण लोगों के दृष्टिकोण को सन्तुष्ट नहीं कर सकी। सभी 'विज्ञानवाद' तथा 'शून्यवाद' के तत्त्वों को समझने में समर्थ नहीं हैं। इतने ऊँचे स्तर तक उनकी दृष्टि नहीं पहुँच सकती। अतएव साधारण जन को इनके दार्शनिक विचारों से विशेष लाभ नहीं हुआ। तस्मात् साधारण लोगों की दृष्टि

से जो दार्शनिक विचारधारा प्रवर्तित होती है, उसी का विचार **'न्याय-दर्शन'** में किया गया है।

अज्ञान ने अनादिकाल से 'आत्मा' को मोह में डाल रखा है। यही मोह से घिरी हुई 'आत्मा' 'बद्ध-जीव' या 'जीवात्मा' कहलाती है। अविद्या के प्रभाव से मनुष्य को दुःख से सर्वथा के लिए छुटकारा पाने के लिए वास्तविक तत्त्व की खोज में तथा उसे समझने में 'सन्देह' उत्पन्न होता है। इसी 'संशय' को दूर करने के लिए मनुष्य के मन में तत्त्वज्ञान की विशेष जिज्ञासा उत्पन्न होती है और वह तर्क-वितर्क करना आरम्भ करता है। बिना 'संशय' के 'तर्क' हो ही नहीं सकता। इसी लिए वात्स्यायन ने कहा है--

संशय

'नानुपलब्धेऽर्थे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते, किं तर्हि ? संशयितेऽर्थे'[1]

अर्थात् जिस वस्तु की कभी भी उपलब्धि न हो तथा जिस वस्तु के सम्बन्ध में निश्चित रूप से ज्ञान हो गया हो, उन वस्तुओं के सम्बन्ध में 'तर्क' नहीं किया जाता, फिर तर्क किया जाता है कहाँ ? जिस विषय के ज्ञान के सम्बन्ध में 'संशय' हो, उसी को निश्चित रूप से जानने के लिए 'तर्क' किया जाता है। इसी लिए गौतम ने 'न्यायसूत्र'[2] में 'निर्णय' का लक्षण करते हुए कहा है--

निर्णय

'विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः'

अर्थात् 'संशय' करने के पश्चात् 'पक्ष' और 'प्रतिपक्ष' के द्वारा, अर्थात् अपने पक्ष का स्थापन एवं पर-पक्ष के साधनों के खण्डन के द्वारा, पदार्थ का निश्चय करना 'निर्णय' कहा जाता है। इस से स्पष्ट है कि 'संशय' उत्पन्न होने पर ही 'निर्णय' किया जाता है, अन्यथा नहीं।

आप्तवचनों को सुन कर तथा श्रुतियों में पढ़ कर जिज्ञासु को 'ज्ञान' प्राप्त होता है। भिन्न-भिन्न स्तर के लोगों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के उपदेश गुरुजन देते हैं तथा उपनिषदों में भी ऐसे ही उपदेश पाये जाते हैं। जैसे--छान्दोग्य उपनिषद् में एक ही मन्त्र में कहा गया है--

---

[1] न्यायभाष्य, १-१-१।

[2] १-१-४१।

'सदेव सोम्येदमग्र आसीत',
'असदेवेदमग्र आसीत',
'तस्मात् असतः सज्जायत इति'।[1]

इससे स्पष्ट है कि एक ने 'सत्' से सृष्टि कही, दूसरे ने 'असत्' से। अब जिज्ञासु के मन में एक ही विषय के सम्बन्ध में परस्पर विरुद्ध मत को सुन कर 'संशय' उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि 'वास्तविक तत्त्व' क्या है ? एक साथ 'सत्' और 'असत्' दोनों तो हो नहीं सकते। इसके पश्चात् प्रमाणों के द्वारा तथा 'तर्क' की सहायता से निर्णय पर पहुँचने के लिए जिज्ञासु चेष्टा करता है। इससे मालूम होता है कि 'निर्णय' के लिए 'संशय' और 'तर्क', इन दोनों की आवश्यकता होती है।

तर्क की आवश्यकता

परम तत्त्व को या किसी लौकिक तत्त्व को भी समझने के लिए 'तर्क' की बड़ी आवश्यकता होती है। इसी लिए श्रुति ने भी 'मनन' को बहुत ऊँचा स्थान दिया। बिना 'मनन' के 'आत्मा' का साक्षात्कार ही नहीं हो सकता और 'आत्मा' का साक्षात्कार ही तो दर्शनशास्त्र का लक्ष्य है। बुद्धि के विकास के लिए 'तर्क' की अपेक्षा होती है। बुद्धि के ही बल से संसार की वस्तुओं का, सूक्ष्म भावनाओं का तथा अचिन्त्य परम तत्त्व का भी 'ज्ञान' हमें होता है, और इस कार्य में 'तर्क' बहुत सहायक होता है।

जीवन में यह देखा जाता है कि कभी आपस में और कभी विपक्षियों के साथ विचार-विनिमय किया जाता है। कभी सत्य बात के समर्थन के लिए और कभी असत्य के खण्डन के लिए हम 'प्रमाणों' की सहायता लेते हैं। किन्तु व्यवहार में प्रमाणों के साथ-साथ हमें 'तर्क' भी देना पड़ता है। वस्तुतः किसी सिद्धान्त पर पहुँचने के लिए हमें (१) 'आप्तवाक्य' या 'श्रुति' या 'आगम', (२) 'तर्क' तथा (३) 'साक्षात् स्वानुभव', इन तीनों की अपेक्षा होती है। इन्हीं को 'श्रवण', 'मनन' और 'निदिध्यासन' के नाम से श्रुति ने कहा है। इसे ध्यान में रखना चाहिए कि 'तर्क' कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है, केवल 'तर्क' से ही हम किसी निर्णय पर पहुँच भी नहीं सकते और इसीलिए कठोपनिषद् में कहा गया है—

'नैषा तर्केण मतिरापनेया'[2]

---

[1] छान्दोग्य, ६-२-१।

[2] १-२-९।

केवल 'तर्क' के द्वारा आत्मा का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। शंकराचार्य ने 'तर्काप्रतिष्ठानात्', इत्यादि ब्रह्मसूत्र[1] के भाष्यमें 'तर्क' का तिरस्कार भी किया, वाक्यपदीय[2] में भर्तृहरि ने 'तर्क' के परिवर्तित हो जाने की सभी सम्भावनाएँ भी बतायीं, किन्तु यह निश्चित है कि बिना 'तर्क' की सहायता से हम निर्णय पर नहीं पहुँच सकते, 'तर्क' प्रमाणों का सहायक है।[3]

तर्क प्रमाणों का सहायक

'तर्क' को प्रधान रूप से ध्यान में रखकर जगत् के पदार्थों का विशेष विचार 'न्यायशास्त्र' या 'तर्कशास्त्र' में किया गया है। अभी तक एक प्रकार से आस्तिक लोग इतने श्रद्धालु होते थे कि श्रुतियों के वचन को आँख मूंद कर मान लेते थे और उस पर 'तर्क' करना अनुचित समझते थे। यद्यपि श्रुति में ही यह बारंबार कहा गया है कि बिना 'मनन'कि ये किसी बात को स्वीकार नहीं करना, चाहे वह श्रुति हो या आप्तवचन हो, तथापि विपक्ष मत के उपस्थित हुए बिना लोगों की दृष्टि 'तर्क' की तरफ विशेष नहीं जाती थी। साधारण रूप से 'तर्क' तो सभी करते ही थे, किन्तु शास्त्र में इसका सांगोपांग विचार तब तक नहीं हुआ, जब तक बौद्धों के साथ इन लोगों का विचार विमर्श आरम्भ नहीं हुआ।

तर्क का महत्त्व

'तर्कशास्त्र' बौद्धों के पहले भी था और वह बड़ा व्यापक था। इसके भिन्न-भिन्न प्राचीन नाम हैं। विद्या की संख्या गिनाने में 'आन्वीक्षिकी'[4] विद्या का प्रथम ही उल्लेख है। उपनिषद्[5], रामायण[6], महाभारत[7], मनुस्मृति[8], गौतमधर्मसूत्र[9] और अर्थशास्त्र[10] में भी इसका स्पष्ट उल्लेख है। प्राचीन काल में भी यह शास्त्र 'हेतुशास्त्र', 'हेतुविद्या', 'तर्कविद्या',

तर्कशास्त्र की प्राचीनता

---

[1] २-१-११।

[2] १-३४।

[3] 'प्रमाणानामनुग्राहकस्तर्कः'—न्यायभाष्य, १-१-१।

[4] 'आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता', इत्यादि।

[5] बृहदारण्यक, २-४-५; छान्दोग्य, ७-१-२।

[6] अयोध्याकाण्ड, १००-३९।

[7] शान्तिपर्व, १८०-४७।

[8] ७-४३।

[9] ११-३।

[10] १-२, ७।

'तर्कशास्त्र', 'वादविद्या', 'न्यायविद्या', 'न्यायशास्त्र', 'प्रमाणशास्त्र', 'वाकोवाक्य', 'तक्की', 'विमंसी', आदि नामों से प्रसिद्ध रहा है। प्राचीन ग्रन्थों में इस शास्त्र के कुछ सिद्धान्तों की चर्चा तो अभी भी विशद रूप से मिलती है, किन्तु उस प्राचीन 'तर्कशास्त्र' का सर्वांगपूर्ण स्वरूप क्या था, इसका पता हम लोगों को नहीं है।

आधुनिक न्यायशास्त्र की उत्पत्ति

'बौद्ध-दर्शन' के प्रकरण में यह कहा गया है कि बौद्ध लोग आस्तिक सिद्धान्तों के विरुद्ध अपने मत का प्रतिपादन करते थे। इसी के निरोध में पुनः न्यायशास्त्र की रचना हुई। इसे समझाने के लिए बौद्धकालीन इतिहास के स्वरूप का संक्षेप में दिग्दर्शन कराना यहाँ आवश्यक है।

अनधिकारी बौद्धों की दशा

ईसा के पूर्व ६ठी शताब्दी में बुद्ध ने ज्ञान प्राप्त कर अपना उपदेश लोगों को सुनाया। उनके सुन्दर उपदेश सुन कर लोग मुग्ध हो जाते थे और बौद्धधर्मावलम्बी बन जाते थे। बुद्ध की भव्य आकृति, प्रभावशाली उपदेश तथा तत्त्वों की उनकी अपनी साक्षात् अनुभूति के प्रभाव से यद्यपि बहुतों ने बौद्धधर्म को स्वीकार कर अपने घर-द्वार को छोड़ दिया और भिक्षु तथा भिक्षुणी बन कर जंगल में रहना स्वीकार कर लिया, किन्तु उनके व्यवहार से तथा शास्त्र के प्रमाणों से यह मालूम होता है कि वे सभी इस धर्म को स्वीकार करने तथा उसके कठोर नियमों के पालन करने के योग्य नहीं थे। उपदेश को सुन कर उससे मुग्ध होकर आवेश में आकर लोगों ने बौद्ध-धर्म को स्वीकार तो कर लिया था, किन्तु वास्तव में वे दुःख से घबरा नहीं गये थे और न हृदय से संसार से विरक्त ही हुए थे। इसलिए जब उनके हृदय का आवेग क्रमशः कम हो गया तब वे सब उस धर्म के कठोर आचरण का अनुसरण न कर सके और आलसी बन कर बिना किसी लक्ष्य के इधर-उधर भटकने लगे। मालूम होता है कि लज्जा और उपहास के भय से पुनः अपने समाज में लौट कर आने का साहस उन्होंने नहीं किया। उन्हें उस प्रकार मार्ग-भ्रष्ट होते देख कर समाज और पड़ोस के प्रतिष्ठित विद्वानों ने उन्हें अपने घर लौटने के लिए बहुत समझाया होगा, किन्तु उन सब ने पुनः कौटुम्बिक जीवन में आना स्वीकार नहीं किया।

उन्हें बेकार भटकते देखकर समाज के लोग उन्हें समझाने के लिए प्रतिष्ठित विद्वानों को अपने साथ लेकर जाते थे। इन लोगों के साथ वे सब अनेक तर्क-वितर्क

करते थे। तर्क की बातों को छोड़ कर अन्य बातों को वे मानते भी नहीं थे। यही अवसर था जब कि गौतम ने एक सर्वांगपूर्ण **'तर्कशास्त्र'** की रचना की। इस ग्रन्थ के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि यह विपक्षियों के मत के खण्डन के लिए प्रधानतया बनाया गया था। अतएव इस में 'वाद', 'जल्प', 'वितण्डा', 'हेत्वाभास', 'छल', 'जाति' तथा 'निग्रहस्थान', इन विषयों का विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। अन्य दर्शनों की तरह 'न्यायशास्त्र' भी 'मोक्षशास्त्र' है तथा 'दुःखनिवृत्ति' या 'निःश्रेयस् की प्राप्ति' इस शास्त्र का भी चरम लक्ष्य है। फिर भी इस में 'वाद' आदि उपर्युक्त विषयों का समावेश किसी विशेष कारण से ही हुआ होगा, इसमें सन्देह नहीं। वह कारण था—बौद्धों के मत का खण्डन करना।

गौतमसूत्र की रचना

यह ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध और विपक्षियों के मत के खण्डन के लिए एक अमोघ अस्त्र का काम देने लगा। इस का परिणाम यह हुआ कि बौद्धों ने नाना प्रकार से इस ग्रन्थ को नष्ट करने का प्रयत्न किया। स्वकल्पित सूत्रों को गौतम के सूत्रों में मिला कर प्रचार करना, इस ग्रन्थ के कुछ अंशों को निकाल कर हटा देना, सूत्रों को उलट-पुलट देना, आदि अनेक प्रकार से ये लोग ग्रन्थ को दूषित करने लगे। इसलिए आस्तिक विद्वानों को इस ग्रन्थ की विशेष रक्षा करनी पड़ी। अनेक बार सूत्रों का उद्धार किया गया। अन्त में वृद्ध **वाचस्पति मिश्र** (प्रथम) ने 'न्यायसूचीनिबन्ध' नाम का एक ग्रन्थ लिखा, जिसमें न्यायसूत्रों के शुद्ध पाठ का उद्धार किया और सूत्रों को, प्रकरणों को तथा अक्षरों तक को, गिन कर लिपिबद्ध किया। इसी से हमें मालूम होता है कि **'न्यायसूत्र'** में ५ अध्याय, १० आह्निक, ८४ प्रकरण, ५२८ सूत्र, १९६ पद तथा ८३८५ अक्षर हैं। इस प्रकार की आपत्ति अन्य किसी भी दर्शन के सम्बन्ध में सुनने में भी नहीं आती।

इस प्रकार आज जो **'न्यायशास्त्र'** या **'न्यायसूत्र'** हमारे सामने है उसकी उत्पत्ति हुई, यह अनुमान किया जाता है।

साहित्य

आधुनिक न्यायशास्त्र के प्रवर्तक गौतम थे जो ईसा के पूर्व ६ठी सदी में मिथिला में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने स्थूल जगत् के तत्त्वों पर विचार किया और उनके ज्ञान के लिए प्रमाणों का निरूपण किया। इन का एकमात्र ग्रन्थ है **'न्यायसूत्र'**। यद्यपि

इस ग्रन्थ का लक्ष्य है निःश्रेयस् या परम तत्त्व की प्राप्ति, तथापि विशेष रूप से यह प्रमाणों के द्वारा तर्क करने की शिक्षा देता है। इसी लिए इस शास्त्र के 'न्यायशास्त्र', 'तर्कशास्त्र', आदि नाम हैं। इस ग्रन्थ के ही आधार पर समस्त न्यायशास्त्र का विस्तृत साहित्य लिखा गया है।

न्यायसूत्र के रचयिता

इस ग्रन्थ या शास्त्र का मुख्य लक्ष्य है 'प्रमाण' और 'प्रमेय' के विशेष ज्ञान से निःश्रेयस् को प्राप्त करना, किन्तु जब तक 'संशय', 'प्रयोजन', 'दृष्टान्त', 'सिद्धान्त', 'अवयव', 'तर्क', 'निर्णय', 'वाद', 'जल्प', 'वितण्डा', 'हेत्वाभास', 'छल', 'जाति' तथा 'निग्रहस्थानों' का विशेष रूप से 'ज्ञान' नहीं होगा, तब तक 'प्रमेय' का ज्ञान अच्छी तरह से नहीं हो सकता। अतएव गौतम ने कहा है कि उपर्युक्त सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मुक्ति मिलती है। इस शास्त्र में इन सोलहों पदार्थों के लक्षणों की प्रमाणों के द्वारा परीक्षा की गयी है।

न्यायशास्त्र के पदार्थ

पूर्व में इस ग्रन्थ पर अनेक व्याख्याएँ लिखी गयी थीं, किन्तु **वात्स्यायन** का 'भाष्य' सब से प्राचीन व्याख्या है, जो आज उपलब्ध है। इनका समय सम्भवतः ईसा के पूर्व दूसरी सदी कहा जा सकता है। **'भाष्य'** के ऊपर **उद्योतकराचार्य** ने अति विस्तृत **'वार्तिक'** लिखा, जिसमें उन्होंने कहा है कि दिङ्नाग आदि बौद्ध कुतार्किकों के ज्ञान को दूर करने के लिए मैंने यह ग्रन्थ लिखा है[1]। ६ठी सदी में यह उत्पन्न हुए थे। बौद्धमत का इस ग्रन्थ में बहुत प्रौढ़ खण्डन है।

भाष्य

वाचस्पति मिश्र (प्रथम) मिथिला के बहुत बड़े विद्वान् थे। इन्होंने सभी दर्शनों पर टीकाएँ लिखी हैं। **'न्यायसूचीनिबन्ध'** की रचना शाके ८९८, अर्थात् ९७६ ई० में इन्होंने की। इन्हें विद्वान् लोग 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' कहते हैं। उद्योतकर के 'वार्त्तिक' पर **'तात्पर्यटीका'** इन्होंने लिखी है। इसके मंगलाचरण में वाचस्पति ने लिखा है—

इच्छामि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपंकमग्नानाम् ।
उद्योतकरगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात् ॥

---

[1] कुतार्किकज्ञाननिवृत्तिहेतुः—मंगलाचरण।

इससे यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध नैयायिकों के द्वारा 'न्यायशास्त्र' की बहुत दुर्दशा हुई थी और वाचस्पति ने बौद्धों के मत का खण्डन कर 'न्यायशास्त्र' की रक्षा करने के ही लिए **तात्पर्यटीका** लिखी थी। इसी से यह भी स्पष्ट है कि बौद्धों के साथ इन लोगों का कितना शास्त्र-विचार चला करता था।

दसवीं सदी में मिथिला के 'करिओन' गाँव में **उदयनाचार्य** का जन्म हुआ था। इनके समान प्रौढ़ विद्वान् भारतवर्ष में बहुत विरले ही हुए हैं। इन्होंने 'तात्पर्यटीका पर **'परिशुद्धि'** नाम की बहुत विस्तृत व्याख्या लिखी है। **'न्यायकुसुमांजलि'** में इन्होंने बौद्धों के मत का खण्डन कर 'ईश्वर' की पृथक् सत्ता का और **'आत्मतत्त्वविवेक'** में 'आत्मा' की पृथक् सत्ता का अकाट्य युक्तियों के द्वारा निरूपण किया। ये इनके अति प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। बौद्धों के मत के खण्डन में ये बहुत निपुण थे।

मध्य-काल में **भासर्वज्ञ** बहुत अच्छे नैयायिकों में गिने जाते थे। इनका **'न्याय-सार'** एक अपूर्व ग्रन्थ है, उस पर इन्होंने स्वयं एक टीका भी लिखी है।

ग्यारहवीं सदी में **जयन्तभट्ट** बड़े प्रौढ़ नैयायिक हुए। इन्होंने कतिपय न्यायसूत्रों पर **'न्यायमंजरी'** नाम की एक बड़ी टीका लिखी है। इनके अतिरिक्त अनेक विद्वानों ने न्यायसूत्र पर टीकाएँ लिखी हैं, जिन में कुछ तो अभी तक अप्रकाशित हैं।

प्राचीन न्याय का वरदराज मिश्र-रचित **तार्किकरक्षा** एक अपूर्व ग्रन्थ है। मल्लिनाथ ने इस पर सुन्दर टीका लिखी है।

इसी समय न्यायशास्त्र के इतिहास में एक बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ। बारहवीं सदी में **गंगेश उपाध्याय** एक अद्वितीय विद्वान् मिथिला में हुए। इन्होंने 'गौतमसूत्र' में से **'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि'**[1] केवल एक मात्र सूत्र लेकर 'तत्त्वचिन्तामणि' नाम का एक विस्तृत ग्रन्थ लिखा। इस में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द, इन चारों प्रमाणों में से प्रत्येक प्रमाण के ऊपर भिन्न-भिन्न खण्ड में बहुत विस्तृत विचार है। प्रमाणसूत्र के आधार पर इस ग्रन्थ के लिखे जाने के कारण, इसे **प्रमाणशास्त्र** का मुख्य ग्रन्थ कह सकते हैं। इस ग्रन्थ की लेखन-शैली एक नवीन ढंग की है। इस शैली से, ज्योतिःशास्त्र को छोड़ कर, प्रायः अन्य सभी शास्त्रों की, विशेष कर व्याकरण तथा दर्शन की, लेखन-परिपाटी पूर्ण प्रभावित हुई। यह नवीन शैली **'नव्यन्याय'** के नाम से प्रसिद्ध हुई। **'तत्त्वचिन्तामणि'** नव्यन्याय का आदि ग्रन्थ माना गया। इसके पूर्व के 'न्यायसूत्र' के ऊपर लिखे गये सभी ग्रन्थ **'प्राचीनन्याय'** के नाम से प्रसिद्ध हुए।

नव्यन्याय की उत्पत्ति

---

[1] १-१-३

'तत्त्वचिन्तामणि' के ऊपर गंगेश के पुत्र **वर्द्धमान** ने **'प्रकाश'** नाम की टीका लिखी। तत्पश्चात् **पक्षधर मिश्र** (१५ वीं सदी) ने **'आलोक'**, **वासुदेव मिश्र** ने **'न्यायसिद्धान्त-सार'**, **रुचिदत्त मिश्र** (१६वीं सदी) ने **'प्रकाश'**, **रघुपति, भगीरथ, महेश ठक्कुर,** आदि विद्वानों ने साक्षात् या परम्परा-रूप में 'तत्त्वचिन्तामणि' पर ग्रन्थ लिखे।

बाद को पक्षधर मिश्र के शिष्य **रघुनाथ शिरोमणि** ने इस शास्त्र का प्रचार बंगाल में किया और 'नवद्वीप' इसका केन्द्र बनाया गया। यहाँ **मथुरानाथ, जगदीश, गदाधर,** आदि बड़े विद्वान् हुए, जिन्होंने 'तत्त्वचिन्तामणि' का विशेष अध्ययन कर उस पर विस्तृत टीकाएँ लिखीं।

इस ग्रन्थ के ऊपर साक्षात् तथा परम्परा-रूप में आज तक जितने ग्रन्थ लिखे गये हैं तथा लिखे जा रहे हैं, उतने प्रायः किसी अन्य शास्त्र पर नहीं। इसका कारण है—

नव्य तथा प्राचीन-न्याय में भेद

बौद्धों के साथ प्रतिवाद। 'नव्यन्याय' के अध्ययन से बुद्धि बहुत तीक्ष्ण होती है, तर्क करने की सामर्थ्य बहुत बढ़ जाती है तथा बोल-चाल की दार्शनिक परिपाटी में विद्वान् प्रौढ़ हो जाते हैं। इसके साथ-साथ इस शास्त्र ने संस्कृत-विद्या के अध्ययन की दृष्टि ही परिवर्तित कर दी। तर्क-प्रधान होने पर भी **'प्राचीनन्याय'** का मुख्य लक्ष्य था 'मुक्ति', किन्तु **'नव्यन्याय'** का मुख्य उद्देश्य है 'शुष्क तर्क करना'। जो साधन था वही साध्य हो गया। **'प्राचीनन्याय'** का अध्ययन लोग भूल गये। **'नव्यन्याय'** के अध्ययन में एक प्रकार का आनन्द है तथा शास्त्रार्थ-विचार में जय-पराजय के लिए तर्क का क्षेत्र विस्तृत हो गया है। यद्यपि **'प्राचीनन्याय'** में भी 'वाद' से लेकर 'निग्रहस्थान' तक के प्रमेय प्रधान रूप से जय-पराजय के लिए थे, किन्तु बाद को उनका उपयोग जितना नव्यन्याय में होने लगा उतना प्राचीनन्याय में नहीं था। आधुनिक युग में भी जितने बुद्धिमान् विद्यार्थी होते थे, सभी नव्यन्याय को ही पढ़ते थे। इसी शास्त्र के पढ़ने वालों का विद्वन्मण्डली में आदर होता आया है। आज भी वह आदर पूर्ववत् है, यद्यपि उच्च कोटि के विद्वानों का आज पूर्ण अभाव है।

पदार्थ-निरूपण

विचार के लिए सभी शास्त्रों का एक अपना-अपना स्वतन्त्र क्षेत्र है। अपने-अपने दृष्टि-कोण से विश्व को देखते हुए चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए लोग अग्रसर होते हैं। प्रत्येक दृष्टिकोण से जितनी दूर तक जिज्ञासु की दृष्टि जाती है, उतनी दूर में स्थित विषयों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने पर ही साधक लोग उससे आगे

जाने के लिए पैर उठा सकते हैं, ऊपर की दूसरी सीढ़ी पर चढ़ सकते हैं। प्रत्येक दर्शन में उतने ही विषयों पर, लक्षण और परीक्षा के द्वारा प्रमाण तथा तर्क के आधार पर, विचार किया गया है। तदनुसार न्यायशास्त्र में भी उपर्युक्त 'प्रमाण' आदि सोलह पदार्थों के ज्ञान से निःश्रेयस् की प्राप्ति होती है, ऐसा गौतम ने कहा है। उन पदार्थों का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है—

प्रमाण—मन तथा चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों के जिस व्यापार के द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो, उसे ही 'प्रमाण' कहते हैं।

उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट है कि वस्तुओं के यथार्थ ज्ञान के लिए 'प्रमाण' होते हैं। इसलिए शास्त्र में निर्णीत विषयों का यथार्थ ज्ञान जितने 'प्रमाण' से हो सके,

प्रमाणों की संख्या

उतने ही प्रमाणों की संख्या को उस शास्त्र में मानने की आवश्यकता होती है। अतएव यदि सभी वस्तुओं का ज्ञान एक ही प्रमाण से हो जाय तो दूसरे प्रमाण को मानने की आवश्यकता नहीं है। इसी लिए **'चार्वाक'** ने एक मात्र 'प्रत्यक्ष' को प्रमाण माना है; **वैशेषिक** तथा **बौद्धों** ने 'प्रत्यक्ष' और 'अनुमान' को; **सांख्य** ने 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान' तथा 'शब्द' को; प्रभाकर मिश्र मीमांसक **(गुरुमत)** ने 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान', 'शब्द', 'उपमान' तथा 'अर्थापत्ति' को; **कुमारिल भट्ट** मीमांसक तथा **वेदान्तियों** ने 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान', 'उपमान', 'शब्द', 'अर्थापत्ति' तथा 'अभाव' को एवं **पौराणिकों** ने उपर्युक्त छः के अतिरिक्त 'संभव' और 'ऐतिह्य' को भी 'प्रमाण' माना है।

न्यायशास्त्र के 'प्रमेयों' को जानने के लिए चार ही प्रमाणों की आवश्यकता होती है। अतएव 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान', 'उपमान' तथा 'शब्द', इन चारों को न्यायशास्त्र ने 'प्रमाण' माना है।[1]

'प्रमाण' के द्वारा जिन पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो वे ही **'प्रमेय'** कहे जाते हैं, अर्थात् जो पदार्थ यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के योग्य हों, वे 'प्रमेय' हैं। 'आत्मा', 'शरीर',

प्रमेय-निरूपण

'इन्द्रिय', 'अर्थ', 'बुद्धि', 'मनस्', 'प्रवृत्ति', 'दोष', 'प्रेत्यभाव', 'फल', 'दुःख' तथा 'अपवर्ग', ये बारह **'प्रमेय'** न्यायशास्त्र में माने जाते हैं[2]। इनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है—

---

[1] **न्यायसूत्र, १-१-३।**

[2] **न्यायसूत्र, १-१-९।**

(१) आत्मा—ज्ञान का जो अधिकारण हो, वही 'आत्मा' है। सभी का द्रष्टा, सभी का भोक्ता, सर्वज्ञ, नित्य तथा सर्वव्यापक 'आत्मा' है।[१] बाह्य इन्द्रियों के द्वारा 'आत्मा' का प्रत्यक्ष नहीं होता। मानसिक प्रत्यक्ष भी सभी नहीं मानते। अतएव इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख तथा ज्ञान-रूप लिंग (हेतु) के द्वारा 'आत्मा' के पृथक् अस्तित्व का अनुमान किया जाता है। 'आत्मा' शब्द यहाँ जीवात्मा के लिए आया है। यही **'बद्ध आत्मा'** है। सुख-दुःख के वैचित्र्य के कारण प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न जीवात्मा है, वही उस शरीर के सुख-दुःख की भोक्ता है। मुक्त होने पर भी 'जीवात्मा' एक दूसरे से स्वतन्त्र रूप में भिन्न ही रहती है। इसी से स्पष्ट है कि नैयायिक लोग मुक्ति की दशा में भी अनेक जीवात्मा मानने वाले हैं।[२] न्यायमत में ज्ञान का अधिकरण होने पर भी 'जीवात्मा' स्वभाव से ज्ञान रहित है, अर्थात् स्वभावतः वह जड़ है। इसमें स्वभाव से चैतन्य नहीं है। मन के विशेष संयोग से उसमें ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान आत्मा का आगन्तुक धर्म है। यही कारण है कि श्रीहर्ष ने अपने 'नैषधचरित'[३] में नैयायिकों का उपहास करते हुए कहा है—

'मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्'।

और एक किसी भक्त ने भी कहा है—

'वरं वृन्दावनेऽरण्ये शृगालत्वं भजाम्यहम्।
न पुनर्वैशेषिकीं मुक्तिं प्रार्थयामि कदाचन'॥[४]

---

[१] न्यायभाष्य, १-१-९।

[२] उमेश मिश्र—कनसेप्शन ऑफ मैटर, परिच्छेद ११, पृ० ३७२-३७६।

[३] सर्ग १७, श्लोक, ७५।

[४] आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में न्याय और वैशेषिक में कोई अन्तर नहीं है। मुक्तावस्था में जीवात्मा सकल दुःखों से मुक्त होकर अपने स्वरूप में स्थित रहती है। उस समय उसमें ज्ञान, सुख आदि भी नहीं रहते। अतएव वह एक प्रकार से प्रस्तर के समान जड़वत् पड़ी रहती है। उसमें कोई आनन्द नहीं, कोई रस नहीं, फिर साधक ऐसी अवस्था की प्राप्ति के लिए क्यों कष्ट उठावे। यही यहां भक्त की प्रार्थना का अभिप्राय है।

ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग, ये जीवात्मा के **'गुण'** हैं।[1] मनुष्य के कायिक, वाचिक तथा मानसिक बुरे और भले कार्यों से उत्पन्न बुरे और भले 'संस्कार' आत्मा में रहते हैं और ये 'संस्कार' मरने के समय जीवात्मा के साथ एक स्थूल शरीर को छोड़ कर दूसरे में प्रवेश करते हैं। इनके ही प्रभाव से जीवात्मा भोग करती है। आत्मा में परम महत् (सब से बड़ा) 'परिमाण', अर्थात् 'विभुत्व' है।

यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि 'जीवात्मा' विभु है, सर्वव्यापी है। इसी लिए यह कहीं जाती तो है नहीं, फिर 'एक शरीर को छोड़ कर जीवात्मा दूसरे में प्रवेश करती है', यह किस प्रकार कहा जा सकता है ? समाधान में यह कहना चाहिए कि 'संस्कार' आत्मा में रहता है, 'आत्मा' व्यापक है, अतएव प्रत्येक जीवात्मा के सभी 'संस्कार' सर्वत्र रहते हैं। नैयायिक 'मन' में तो 'संस्कार' स्वीकार करते नहीं। परन्तु स्थूल शरीर में रहते हुए 'मन' के साथ 'जीवात्मा' का सम्बन्ध होने पर 'जीवात्मा' के वे 'संस्कार' उद्‌बुद्ध होते हैं, तभी उस 'जीवात्मा' में भोग होता है। वस्तुतः एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर में प्रवेश 'मन' करता है। तथापि स्थूल बुद्धि वालों को समझाने के लिए 'जीवात्मा' के साथ 'संस्कार' जाता है, यह कहा जाता है। अतएव 'जीवात्मा' शब्द से यहाँ 'मन' समझना चाहिए।

(२) **शरीर**—'शरीर' दूसरा प्रमेय है। हित की प्राप्ति और अहित को दूर करने के लिए जो क्रिया की जाय, उसे 'चेष्टा' कहते हैं। जिसमें यह चेष्टा रहे या जिसमें इन्द्रियाँ रहें या जिसमें जीवात्मा को सुख-दुःख का अनुभव हो, वही **'शरीर'** है। इसे 'भोगायतन' भी कहते हैं।[2]

(३) **इन्द्रिय**—बाह्य जगत् के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द, इन विषयों का जिससे ज्ञान हो, उसे ही **'इन्द्रिय'** कहते हैं। इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं— **बाह्येन्द्रिय** और **अन्तरिन्द्रिय**। बाह्येन्द्रिय के पुनः दो भेद हैं—

---

[1] प्रशस्तपादभाष्य, पृ० ७०।

[2] न्यायसूत्र, १-१-११।

ज्ञानेन्द्रिय—चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् तथा श्रोत्र एवं **कर्मेन्द्रिय**—वाक्, हस्त, पाद, जननेन्द्रिय तथा मल के बाहर होने की इन्द्रिय। **अन्तरिन्द्रिय** केवल 'मन' है।

'ज्ञानेन्द्रियाँ' क्रमशः तेजस्, जल, पृथिवी, वायु तथा आकाश, इन्हीं पाँचों भूतों के स्वरूप हैं।

(४) **अर्थ**—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द, ये ही पाँच न्यायमत में 'अर्थ' कहलाते हैं। ये क्रमशः तेजस्, जल, पृथिवी, वायु, तथा आकाश के 'विशेष गुण' हैं।[१]

न्यायभाष्यकार ने 'सुख तथा सुख का कारण' एवं 'दुःख तथा दुःख का कारण' इस अर्थ में भी **'अर्थ'** शब्द का प्रयोग किया है।[२]

वैशेषिक मत में तो द्रव्य, गुण तथा कर्म, इन तीनों को 'अर्थ' कहते हैं।[३]

(५) **बुद्धि**—न्यायमत में बुद्धि, उपलब्धि तथा ज्ञान, ये तीनों पर्याय-वाचक शब्द हैं।[४]

(६) **मनस्**—इसे अन्तरिन्द्रिय कहते हैं। सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, आदि 'आत्मा' के गुणों का ज्ञान 'मन' के द्वारा होता है। 'मन' अणु-परिमाण का है। अतएव एक समय में यह मन एक ही स्थान पर रहता है। आत्मा तथा इन्द्रिय के साथ बिना मन का सम्बन्ध हुए 'ज्ञान' नहीं उत्पन्न होता। अतएव एक साथ एक ही 'ज्ञान' क्रमशः उत्पन्न होता है।

मन नित्य है। एक शरीर में एक ही मन रहता है। मरने के समय यह शरीर से बाहर निकल जाता है, जिसे 'उपसर्पण' कर्म कहते हैं। वस्तुतः 'मन' के निकलने को ही 'मरण' कहते हैं। दूसरे शरीर में वही 'मन' प्रवेश करता है, जिसे 'अपसर्पण' कर्म कहते हैं। मोक्ष की दशा में भी

---

[१] न्यायसूत्र, १-१-१२-१४।

[२] १-१-१।

[३] वैशेषिकसूत्र, ८-२-५।

[४] न्यायसूत्र, १-१-१५।

जीवात्मा के साथ एक 'मन' रहता ही है। यही 'मन' मोक्षावस्था में एक आत्मा को दूसरी आत्मा से पृथक् रखता है और इसी के कारण जीवात्मा और परमात्मा अलग-अलग रहते हैं। इसी के कारण मोक्षावस्था में भी न्यायमत में 'आत्मा' अनेक है।

(७) **प्रवृत्ति**—कायिक, वाचिक तथा मानसिक जो क्रिया होती है, उसके आरम्भ को **'प्रवृत्ति'** कहते हैं।

(८) **दोष**—जिसके कारण 'प्रवृत्ति' हो वही **'दोष'** है। राग, द्वेष तथा मोह के कारण हमारी सभी प्रवृत्तियाँ होती हैं। इसलिए राग, द्वेष तथा मोह को **'दोष'** कहते हैं।

(९) **प्रेत्यभाव**—मरने के पश्चात् दूसरे शरीर में जीवात्मा की स्थिति को **'प्रेत्यभाव'** कहते हैं। 'परलोक' का होना इसी से प्रमाणित हो जाता है। इसी को फिर से जीवात्मा की उत्पत्ति भी कहते हैं।

(१०) **फल**—सुख और दुःख का संवेदन होना ही **'फल'** है। अपने अनुकूल भाव को 'सुख' तथा प्रतिकूल को 'दुःख' कहते हैं। हमारी क्रियाओं के सुख या दुःख ही फल हैं।

(११) **दुःख**—इसे ही पीड़ा, ताप, क्लेश, आदि भी कहते हैं। सबको स्वयं इनका अनुभव होता है। इस संसार में कोई भी जीव दुःख से रहित नहीं है एवं हमारी क्रियाओं के फल को भी दुःख से कभी मुक्ति नहीं है। अतएव न्यायशास्त्र में सुख को 'दुःख' के ही अन्तर्गत कहा है।

(१२) **अपवर्ग**—**'अपवर्ग'** मोक्ष को कहते हैं, अर्थात् जीवात्मा के इक्कीस प्रकार के दुःख तथा दुःख के कारण जब नष्ट हो जायँ, तभी वह जीवात्मा 'मुक्त' कहलाती है, अर्थात् इक्कीस प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिकी निवृत्ति ही 'मोक्ष' है। शरीर, मनस् को लेकर छः इन्द्रियाँ तथा उन इन्द्रियों के छः रूप, रस आदि विषय एवं उनके रूपज्ञान, रसज्ञान आदि छः ज्ञान तथा सुख एवं दुःख, इन इक्कीसों से दुःख उत्पन्न होता है। इन्हीं के आत्यन्तिक नाश को 'मोक्ष' कहते हैं।

शास्त्र को पढ़कर उसके मर्म को समझने से जगत् के सभी पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होता है। उन सभी पदार्थों में नाना प्रकार के दोषों को देखकर साधक संसार से

विरक्त होकर 'मोक्ष' की इच्छा करता है। पश्चात् गुरु के उपदेश से योगशास्त्र में कहे गये 'अष्टांग योग' का अभ्यास कर 'ध्यान' तथा 'समाधि' में पूर्ण परिपाक को प्राप्त कर साधक 'आत्मा' का साक्षात्कार करता है। साथ ही साथ उसके अविद्या, अस्मिता (आत्मा और अनात्मा को एक मानना), राग, द्वेष तथा अभिनिवेश (मृत्युभय),[1] ये पाँच क्लेश नष्ट हो जाते हैं। पश्चात् वह निष्काम कर्म करता है जिससे भविष्यत् में उसके कर्मजन्य 'संस्कार' नहीं उत्पन्न होते, अर्थात् 'कर्म' 'संचित' नहीं होते। पूर्व-पूर्व जन्मों के कर्मजन्य संस्कारों के या संचित कर्मों के ज्ञान को योगाभ्यास के प्रभाव से प्राप्त कर, उन कर्मों के भोगने के योग्य भिन्न-भिन्न शरीरों को 'काय व्यूह' के द्वारा उत्पन्न कर, कर्मों के भोग में तीव्रता को बढ़ा कर, सभी भोगों को भोग लेने के पश्चात् पूर्व-कर्मों का नाश हो जाने से, भविष्यत् काल में होने वाले शरीरों के अभाव में, जब वर्तमान शरीर का मरण होता है, तभी इक्कीस दुःखों की आत्यन्तिकी निवृत्ति होती है और साधक 'मुक्त' हो जाता है।[2] इसी बात को गौतम ने भी कहा है—मिथ्याज्ञान का नाश होने से राग, द्वेष, आदि दोषों का नाश होता है, पश्चात् 'प्रवृत्ति' नहीं होती, फिर 'जन्म' ही नहीं लेना पड़ता और अन्त में दुःख का नाश होने से 'मुक्ति' मिलती है।[3]

मोक्षप्राप्ति की प्रक्रिया

इन्हीं बारहों प्रमेयों के यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिए न्यायशास्त्र का अध्ययन करना आवश्यक है। इन्हीं के ज्ञान के द्वारा इस जगत् के पदार्थों का तत्त्वज्ञान हो जाता है और पश्चात् साधक 'आत्मा' की खोज में अग्रसर होता है। परन्तु इनके यथार्थ ज्ञान के लिए 'संशय' से लेकर 'निग्रहस्थान' पर्यन्त चौदह पदार्थों का एवं प्रमाणों का भी ज्ञान आवश्यक है। अतएव अति संक्षेप में इनका भी विवरण यहाँ देना आवश्यक है।

३ **संशय**—किसी एक वस्तु में यदि दो भिन्न पदार्थों के समान धर्म पाये जायँ और उन दोनों को परस्पर पृथक् कर देने वाला एक भी धर्म न पाया जाय, तो उसमें **'संशय'** उत्पन्न होता है। जैसे—अन्धकार के कारण एक खड़ी हुई लम्बायमान वस्तु में शाखा-पत्र-रहित वृक्ष (स्थाणु) तथा पुरुष के होने

---

[1] पातञ्जल योगसूत्र, २-३-९।

[2] न्यायसूत्र तथा भाष्य, ४-२-३८-४६; केशव मिश्र—तर्कभाषा, पृष्ठ ९१-९२, पराञ्जपे का संस्करण।

[3] न्यायसूत्र, १-१-२।

का 'सन्देह' होता है। 'संशय' में समान बल वाले दो प्रकार के उभय-कोटि ज्ञान साधक के सामने उपस्थित होते हैं। 'संशय' के बिना कोई तर्क आरम्भ नहीं होता और न तो कोई निर्णय ही किया जा सकता है। न्यायशास्त्र में यही इसका महत्त्व है।

४ **प्रयोजन**—जिससे प्रेरित होकर कार्य करने में लोग प्रवृत्त हों, उसे **'प्रयोजन'** कहते हैं।

५ **दृष्टान्त**—इसे 'उदाहरण' भी कहते हैं। किसी बात के साधन के लिए इसका उद्धरण दिया जाता है। जिस बात में पक्ष और विपक्ष दोनों दलों का एक मत हो, वही **दृष्टान्त** के रूप में उद्धृत हो सकता है।

६ **सिद्धान्त**—प्रमाणों के द्वारा किसी बात को मान लेना कि 'यह ऐसा है,' इसे ही **'सिद्धान्त'** कहते हैं।

७ **अवयव**—अनुमान की प्रक्रिया में जितने वाक्यों का प्रयोग करना पड़ता है, **वे सब 'अवयव'** कहलाते हैं।

विचार करने पर मालूम होता है कि ये अवयव-रूपी वाक्य सब न्यायमत में **स्वीकृत प्रमाणों के प्रतीक हैं।**

'अनुमान' के दो भेद होते हैं—'स्वार्थानुमान' (अपने लिए अनुमान करना) तथा 'परार्थानुमान' (दूसरों को समझाने के लिए अनुमान करना)।

परार्थानुमान में पाँच वाक्य होते हैं, जैसे—

(१) **प्रतिज्ञा**—पर्वत में आग है। यह 'शब्द' प्रमाण है।

(२) **हेतु**—क्योंकि (पर्वत में) धूआँ है। यह 'अनुमान' प्रमाण है।

(३) **उदाहरण या दृष्टान्त**—जैसे रसोई घर, जहाँ धूम के साथ आग देखी जाती है। यह 'प्रत्यक्ष' प्रमाण है।

(४) **उपनय**—'जहाँ धूम है वहाँ आग है', इस प्रकार के अविनाभाव-सम्बन्ध से युक्त 'धूम' पर्वत में है। यह 'उपमान' प्रमाण है।

(५) **निगमन**—अतएव पर्वत में आग है—इस वाक्य में सभी प्रमाणों का एक ही विषय में सामर्थ्य का प्रदर्शन होता है।

इन पाँचों वाक्यों में न्यायमत के सभी प्रमाणों का एकत्र समावेश है। अतएव इन पाँचों अवयवों के समूह को **'परम न्याय'** कहते हैं। इसी लिए वात्स्यायन ने कहा है कि 'प्रमाणों के द्वारा अर्थ की परीक्षा ही न्याय' है।[1]

८ **'तर्क'**—तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रमाणों का सहायक 'तर्क' कहलाता है।

९ **निर्णय**—किसी विषय के सम्बन्ध में पक्ष और विपक्ष को लेकर विचार करने के पश्चात् जिस विषय पर दोनों पक्षों का विचार स्थिर हो जाय, उसे **'निर्णय'** कहते हैं। यही तो तत्त्वज्ञान है। 'निर्णय' पर पहुँच जाने से एक पक्ष का विचार माना जाता है, दूसरे का खण्डित हो जाता है।

१० **वाद**—तत्त्वजिज्ञासा के लिए दो या उनसे अधिक व्यक्तियों के बीच में जो 'कथा'[2] अर्थात् पक्ष और प्रतिपक्ष के रूप में विचार-विनिमय हो, उसे **'वाद'** कहते हैं। इसमें हार-जीत का विचार नहीं रहता। जैसे—गुरु तथा शिष्य के बीच में शास्त्र के सम्बन्ध में कोई विचार हो।

११ **जल्प**—जिस **'कथा'** के द्वारा वाक्यों के सन्दर्भ में दो या उनसे अधिक व्यक्ति पक्ष तथा प्रतिपक्ष का अवलम्बन कर एक पक्ष का साधन तथा दूसरे पक्ष का खण्डन करें एवं छल, जाति और निग्रहस्थान का जिस 'कथा'-सन्दर्भ में प्रयोग किया जाय, उसे **'जल्प'** कहते हैं।

१२ **वितण्डा**—जिस 'जल्प' में किसी भी पक्ष का स्थापन न किया जाय, उसे **'वितण्डा'** कहते हैं। 'वितण्डा' को अवलम्बन करने वाले **'वैतण्डिक'** कहलाते हैं। ये सभी के पक्षों का खण्डन करते हैं, किन्तु अपना कोई भी सिद्धान्त या पक्ष स्वीकार नहीं करते। जैसे श्रीहर्ष-रचित 'खण्डनखण्ड-खाद्य' में श्रीहर्ष ने अपने को 'वैतण्डिक' के रूप में दिखाया है।

१३ **हेत्वाभास**—'हेतु' के समान मालूम हो, किन्तु उस हेतुवाक्य में कोई न कोई दोष अवश्य हो, उसे **'हेत्वाभास'** कहते हैं।

---

[1] **न्यायभाष्य, १-१-१ ।**

[2] **अनेक वक्ताओं के मध्य में पूर्व तथा उत्तर-पक्ष के रूप में प्रयोग किये गये वाक्यों के सन्दर्भ को 'कथा' कहते हैं।**

१४ **छल**—किसी वक्ता के कथन के अभिप्राय को उलट कर उस वाक्य के अर्थ को अनर्थ में परिवर्तित कर देना '**छल**' है।

१५ **जाति**—साधर्म्य और वैधर्म्य के द्वारा किसी वाक्य में दोष बताना '**जाति**' कहलाता है। एक प्रकार से यह मिथ्या उत्तर देना है।

१६ **निग्रहस्थान**—किसी वाक्य-सन्दर्भ में वादी तथा प्रतिवादी के विपरीत ज्ञान एवं अज्ञान को '**निग्रहस्थान**' कहते हैं।

इन सोलह पदार्थों का सब तरह से ज्ञान प्राप्त करने से निःश्रेयस् की प्राप्ति होती है, अर्थात् न्यायशास्त्र के अनुसार 'परम तत्त्व' का ज्ञान होता है। इन पदार्थों में 'जल्प' से लेकर 'निग्रहस्थान' पर्यन्त जितने पदार्थ हैं, उनका मुख्य लक्ष्य है—विपक्षियों के प्रतिपादन में दोष का उद्घाटन करना और उनका खण्डन करना तथा अपने सिद्धान्त की रक्षा करना। मालूम होता है कि बौद्धों के साथ तर्क-वितर्क करने के लिए ही गौतम ने न्यायशास्त्र में इन पदार्थों का समावेश किया।

ज्ञान और प्रमाण

ऊपर कहा गया है कि पदार्थों के 'ज्ञान' से 'निःश्रेयस्' की प्राप्ति होती है। अब यहाँ विचार करना है कि 'ज्ञान' किसे कहते हैं और उसकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है? न्यायशास्त्र में 'ज्ञान' जीवात्मा का 'विशेषगुण' है। चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् तथा श्रोत्र, इन पाँचों इन्द्रियों के द्वारा एवं मनस् की सहायता से आत्मा में 'ज्ञान' उत्पन्न होता है। यह 'ज्ञान' आत्मा का आगन्तुक धर्म है, स्वाभाविक नहीं।

'ज्ञान' दो प्रकार का है—**स्मरणरूप** तथा **अनुभवरूप**। किसी वस्तु का जब अनुभवरूप ज्ञान होता है, तो वह तीन क्षणों के बाद नष्ट हो जाता है। परन्तु उस ज्ञान का एक संस्कार 'आत्मा' पर अंकित हो जाता है। प्रत्येक ज्ञान का पृथक्-पृथक् संस्कार होता है। ज्ञान के तारतम्य के अनुसार कोई संस्कार दृढ़ और तीक्ष्ण होता है और कोई चञ्चल तथा मन्द। किन्तु एक भी संस्कार नष्ट नहीं होता। पुनः कालान्तर में या दूसरे जन्म में सादृश्य-दर्शन, आदि अनेक कारणों से वे संस्कार क्रमशः उद्बुद्ध होते हैं और 'स्मरणरूप' में पुनः उसी मनुष्य की आत्मा में उपस्थित हो जाते हैं। यही **स्मरणरूप ज्ञान** है। इस ज्ञान में ज्ञात वस्तु का ही पुनः ज्ञान होता है। अतएव न्यायमत में इसे 'प्रमा' (अर्थात् यथार्थज्ञान) नहीं कहते।

ज्ञान के भेद

स्मरणात्मक ज्ञान

'स्मृति' से भिन्न ज्ञानेन्द्रिय तथा वस्तु के संयोग से साक्षात् या परम्परा-रूप में जो ज्ञान उत्पन्न हो, उसे **'अनुभव-ज्ञान'** कहते हैं। इसे ही 'प्रमा' अर्थात् 'यथार्थ ज्ञान' कहते हैं।

अनुभवात्मक ज्ञान

जैसी वस्तु हो, उसे उसी प्रकार जानना **यथार्थ ज्ञान** है, अर्थात् घट को घट ही जानना, सर्प को सर्प ही जानना 'यथार्थ ज्ञान' है। जो वस्तु जिस प्रकार की हो उसे उस रूप में न जानना या उसे दूसरे रूप में जानना **'अयथार्थ ज्ञान'** है। जैसे—अंधकार में 'रस्सी' को 'सर्प' जानना या 'सीप' को 'चाँदी' समझना, 'शरीर' को 'आत्मा' समझना, ये सभी **'अयथार्थ ज्ञान'** हैं।

यथार्थ एवं अयथार्थ ज्ञान

न्यायमत में संशय, विपरीत ज्ञान तथा तर्क, इन तीनों को 'अयथार्थ ज्ञान' माना है, अर्थात् इन तीनों से निश्चित ज्ञान नहीं होता। जो 'निश्चित ज्ञान' हो, वही **'यथार्थ ज्ञान'** या **'प्रमा'** है।

यथार्थ अनुभव चार प्रकार के होते हैं—'प्रत्यक्ष', 'अनुमिति', 'उपमिति' तथा 'शब्द'। यहाँ इन चारों का संक्षेप में विवरण देना आवश्यक है। इन चारों ज्ञानों को उत्पन्न करने में सबसे अधिक जो साधक हो, वह **'प्रमाण'** कहा जाता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण

ज्ञानेन्द्रिय और किसी वस्तु के सन्निकर्ष से साक्षात् जो यथार्थ अनुभव उत्पन्न हो, उसे **'प्रत्यक्ष'** ज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान को उत्पन्न करने में जो सबसे अधिक साधक हो, वही **'प्रत्यक्ष प्रमाण'** है। जैसे—किसी पुस्तक का साक्षात् अनुभव तभी होता है, जब हमारी आँखें, अर्थात् चक्षुरूपी ज्ञानेन्द्रिय का उस पुस्तक के साथ साक्षात् सम्बन्ध हो। इस सम्बन्ध से उत्पन्न जो ज्ञान हो, उसे **'चाक्षुष प्रत्यक्ष'** कहते हैं। इसी प्रकार रसनेन्द्रिय के साथ साक्षात् सम्बन्ध होने से उत्पन्न ज्ञान **'रासन प्रत्यक्ष'**, घ्राणेन्द्रिय के सम्बन्ध से **'घ्राणज प्रत्यक्ष'**, त्वगिन्द्रिय के सम्बन्ध से **'त्वाच प्रत्यक्ष'**, तथा श्रोत्रेन्द्रिय के सम्बन्ध से **'श्रावण प्रत्यक्ष'**, ये पाँच प्रकार के 'प्रत्यक्ष' होते हैं। ये सभी 'बाह्य प्रत्यक्ष' कहे जाते हैं।

प्रत्यक्ष के भेद

इसी प्रकार 'मन' भी एक इन्द्रिय है। इसके साक्षात् सम्बन्ध से सुख, दुःख, ज्ञान, इच्छा, द्वेष, धर्म, अधर्म, आदि का जो ज्ञान होता है, उसे भी 'प्रत्यक्ष ज्ञान' कहते हैं, परन्तु यह 'मानसिक प्रत्यक्ष' कहा जाता है।

बाह्य प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—**निर्विकल्पक** तथा **सविकल्पक**। बाह्य इन्द्रिय का जब अपने विषय के साथ साक्षात् सन्निकर्ष होता है, तब सबसे पहले 'आत्मा' में एक ज्ञान उत्पन्न होता है, जो 'सम्मुग्ध' या 'अव्याकृत' ज्ञान कहा जाता है। इस ज्ञान में केवल 'उस वस्तु का होना' इतने का ही भान होता है, परन्तु उस वस्तु में कौन-सा गुण है, उसका क्या नाम है, इत्यादि किसी प्रकार का विशेष ज्ञान नहीं होता। हर प्रकार के गुण तथा धर्म से रहित केवल वस्तु की स्थिति मात्र का आभास इस अवस्था में होता है। इस ज्ञान के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। गुण आदि विकल्पों से रहित होने के कारण इसे **'निर्विकल्पक ज्ञान'** कहते हैं। वास्तविक प्रत्यक्ष ज्ञान तो यही है। इसे ही गौतम ने अपने सूत्र में 'प्रत्यक्ष' माना है। बौद्धों ने भी इसी को प्रत्यक्ष कहा है।

किन्तु इस व्यावहारिक जगत् में ज्ञान का उपयोग व्यवहार के लिए भी होता है। 'निर्विकल्पक' ज्ञान से तो कोई भी व्यवहार नहीं चल सकता। इसलिए उस ज्ञान को व्यवहार के योग्य बनाने के लिए न्यायमत में कहा जाता है कि उत्पन्न होने के प्रथम क्षण में तो प्रत्येक वस्तु का 'ज्ञान' नाम, जाति, गुण, आदि विकल्पों से रहित, अर्थात् निर्विकल्पक ही होता है। बाद को दूसरे क्षण में उस ज्ञान में उस वस्तु के नाम, जाति, आकृति, गुण, आदि विकल्पों का भी ज्ञान होता है और वही 'निर्विकल्पक' ज्ञान वाक्यों के द्वारा व्यवहार के लिए प्रकट किया जाता है। इसे **'सविकल्पक ज्ञान'** कहते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से प्रथम क्षण में जो ज्ञान होता है, वह, मूक पुरुषों के ज्ञान के समान, व्यवहार में नहीं लाया जा सकता है, परन्तु पश्चात् दूसरे क्षण में जो ज्ञान होता है, वह शब्दों के द्वारा व्यवहार में लाया जा सकता है।

ऊपर कहा गया है कि प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए इन्द्रिय और अर्थ का 'सन्निकर्ष' आवश्यक है। ये सन्निकर्ष छः प्रकार के हैं—'संयोग', 'संयुक्त-समवाय', 'संयुक्त-समवेत-समवाय', 'समवाय', 'समवेत-समवाय' तथा 'विशेषण-विशेष्य-भाव'।

सन्निकर्ष के भेद

(१) **संयोग**—चक्षु के साथ पुस्तक का जो सम्बन्ध होता है, उसे **'संयोग'** कहते हैं। 'चक्षु' द्रव्य है और 'पुस्तक' भी द्रव्य है। द्रव्यों में 'संयोग' सम्बन्ध होता है।

(२) **संयुक्त-समवाय**—चक्षु के द्वारा पुस्तक तथा पुस्तक के 'रूप' का भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इससे स्पष्ट है कि चक्षु के साथ 'पुस्तक-रूप' का भी सन्निकर्ष होता है, किन्तु यह सन्निकर्ष साक्षात् नहीं होता। 'रूप'

पुस्तक में है। अतएव पुस्तक के द्वारा चक्षु 'रूप' के साथ सन्निकृष्ट होता है, अर्थात् चक्षु और पुस्तक में 'संयोग' सम्बन्ध होता है। 'पुस्तक' गुण को रखने वाली अर्थात् 'गुणी' है तथा पुस्तक-रूप उस पुस्तक का 'गुण' है। ये 'गुण-गुणी' होने के कारण **'अयुतसिद्ध'**[1] हैं, और इन दोनों में **'समवाय'** सम्बन्ध है। इसलिए 'चक्षु' को 'पुस्तक-रूप' के साथ 'संयोग + समवाय' अर्थात् **'संयुक्त-समवाय'** सम्बन्ध होने से आत्मा 'पुस्तक-रूप' का 'प्रत्यक्ष' ही प्रमाण के द्वारा 'ज्ञान' प्राप्त करती है।

(३) **'संयुक्त-समवेत-समवाय'**—प्रत्येक 'व्यक्ति' में एक 'जाति' रहती है। इसी जाति के द्वारा एक विभाग की वस्तु दूसरे विभाग से पृथक् की जाती है। जैसे—'घट' में एक 'जाति' है—'घट+त्व' (घटत्व)। इसके द्वारा ही 'घट' 'पट' से भिन्न कहा जाता है, क्योंकि 'पट' में एक भिन्न जाति है—'पट+त्व' (पटत्व)। इस 'जाति' को 'त्व' या 'ता' के द्वारा प्रकट करते हैं। इस प्रकार की 'जाति' कुछ स्थानों को छोड़कर[2] अन्यत्र सभी में है। जैसे—पुस्तकत्व, पुस्तकरूपत्व, इत्यादि।

प्रत्यक्ष ज्ञान में यह देखा जाता है कि जिस इन्द्रिय से जिस वस्तु का ज्ञान होता है, उसी इन्द्रिय से उसकी 'जाति' तथा उसके 'अभाव' का भी ज्ञान होता है। अर्थात् चक्षुरूप इन्द्रिय से 'पुस्तक' का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, साथ ही साथ 'पुस्तकत्व' का तथा 'पुस्तकरूपत्व' का भी ज्ञान होता है। विचारणीय विषय यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष होना आवश्यक है, तस्मात् 'चक्षु' इन्द्रिय के साथ 'पुस्तक-रूप-त्व' का भी सन्निकर्ष होता है। यह सन्निकर्ष साक्षात् नहीं है। यह परम्परा सन्निकर्ष है। 'चक्षु' के साथ 'पुस्तक' का 'संयोग' सम्बन्ध, 'चक्षु' के साथ 'पुस्तक-रूप'

---

[1] **उन दो पदार्थों को 'अयुतसिद्ध' कहते हैं, जिन दो पदार्थों में एक, अपनी स्थिति की अवस्था में, दूसरे के आश्रित होकर ही अपने अस्तित्व को रख सकता है—'ययोर्द्वयोर्मध्ये एकमपराश्रितमेवावतिष्ठते तावेवायुतसिद्धौ'। जैसे—अवयव और अवयवी, गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान्, जाति और व्यक्ति तथा विशेष और नित्य द्रव्य, ये 'अयुतसिद्ध' हैं। इनमें परस्पर 'समवाय' सम्बन्ध है।**

[2] **'व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः।**
रूपहानिरसंबन्धो जातिबाधकसंग्रहः'—उदयनाचार्य—किरणावली।

का 'संयुक्त-समवाय' तथा 'चक्षु' के साथ 'पुस्तक-रूप-त्व' का **'संयुक्त-समवेत-समवाय'** सम्बन्ध है। क्योंकि 'जाति' और 'व्यक्ति' **'अयुतसिद्ध'** हैं, इनमें 'समवाय' सम्बन्ध है।

(४) **समवाय**—'कान' से 'शब्द' का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसलिए 'कान' और 'शब्द' में 'सन्निकर्ष' होना आवश्यक है। 'कान' को तर्कशास्त्र में 'आकाश' मानते हैं। 'शब्द' 'आकाश' का विशेष गुण है। 'आकाश' द्रव्य है और 'शब्द' उसका विशेष गुण है। इन दोनों में गुण-गुणी-भाव है। ये **'अयुतसिद्ध'** हैं। अतएव इनमें **'समवाय'** सम्बन्ध है। तस्मात् 'कान' **समवाय** सम्बन्ध के द्वारा 'शब्द' का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करता है।

(५) **समवेत-समवाय**—ऊपर कहा गया है कि प्रत्येक 'व्यक्ति' में एक 'जाति' रहती है, तस्मात् 'शब्द' में भी 'शब्द+त्व' जाति है और 'कान' से ही उस 'शब्दत्व' का भी प्रत्यक्ष होता है। शब्द और शब्दत्व में व्यक्ति और जाति का सम्बन्ध होने से ये **'अयुतसिद्ध'** हैं। अतएव इनमें 'समवाय' सम्बन्ध है। अब 'कान' के साथ 'शब्द' का 'समवाय' सम्बन्ध तथा 'शब्द' के साथ 'शब्दत्व' का 'समवाय' सम्बन्ध है। तस्मात् 'कान' के साथ 'शब्दत्व' का **'समवाय-समवाय'**, अर्थात् **'समवेत-समवाय'** सम्बन्ध है।

(६) **विशेषण-विशेष्य-भाव**—उपर्युक्त पाँच प्रकार के सन्निकर्षों से 'भाव' पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। 'अभाव' का भी ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है। इसके लिए न्यायमत में **'विशेषण-विशेष्य-भाव'** सम्बन्ध माना गया है।

किसी वस्तु का न होना, उस वस्तु का 'अभाव' कहा जाता है। जैसे—'पुस्तक' का मेज पर न होना, मेज पर 'पुस्तक का अभाव' कहा जाता है। जिस इन्द्रिय से जिस वस्तु का प्रत्यक्ष हो, उसी इन्द्रिय से उस वस्तु के 'अभाव' का भी प्रत्यक्ष होता है। 'पुस्तक' का प्रत्यक्ष 'चक्षु' से होता है। तस्मात् 'पुस्तक के अभाव' का भी प्रत्यक्ष ज्ञान 'चक्षु' से ही होगा। पुस्तक और पुस्तकाभाव में एक 'भाव' द्रव्य है और दूसरा 'अभाव'-रूप पदार्थ है। अतएव इन दोनों में उपर्युक्त पाँच प्रकार के सन्निकर्ष नहीं हो सकते।

इसलिए तर्कशास्त्र में 'अभाव' के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए **'विशेषण-विशेष्य-भाव'** नाम का एक छठा सम्बन्ध स्वीकार किया गया है।

'पुस्तकाभाव' मेज पर है, अर्थात् 'पुस्तकाभाव' मेज का 'विशेषण' है और 'मेज' 'विशेष्य' है। इसलिए इन दोनों में **'विशेषण-विशेष्य-भाव'** सम्बन्ध है और इसी सम्बन्ध के द्वारा चक्षु को 'पुस्तकाभाव' का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

मीमांसकों का मत

मीमांसकों का कहना है कि **'सम्बन्ध'** को 'एक', 'उभयाश्रित' तथा 'सम्बन्धियों से भिन्न' होना चाहिए। ये तीनों बातें 'विशेषण-विशेष्य-भाव' में नहीं हैं। इसलिए यह 'सम्बन्ध' ही नहीं हो सकता। अतएव अभाव के ज्ञान के लिए एक पाँचवाँ प्रमाण माना जाय, जिसे मीमांसक लोग **'अनुपलब्धि'** या **'अभाव'** प्रमाण कहते हैं।

तर्कशास्त्र ने व्यावहारिकता की प्रधानता को स्वीकार कर प्रत्यक्ष प्रमाण के ही द्वारा 'अभाव' का भी प्रत्यक्ष ज्ञान माना है। पाँचवाँ प्रमाण मानने की इसे आवश्यकता ही नहीं है, मानने पर 'गौरव' दोष होगा।

इसी प्रकार अन्य ज्ञानेन्द्रियों से भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। ध्यान में रखना चाहिए कि चक्षुरिन्द्रिय से 'रूप' तथा 'रूपवत्' का, रसनेन्द्रिय से 'रस' तथा 'रसवत्' का, घ्राणेन्द्रिय से 'गन्ध' तथा 'गन्धवत्' का ज्ञान होता है। इसी प्रकार इनके अभाव का भी ज्ञान अपनी-अपनी इन्द्रियों के द्वारा होता है।

मन, आत्मा तथा त्वगिन्द्रिय का सन्निकर्ष

इन सभी ज्ञानों में इन्द्रिय तथा अर्थ के अतिरिक्त 'मन' तथा 'आत्मा' का भी 'संयोग' आवश्यक है। 'आत्मा' ही तो ज्ञान का आश्रय है। 'ज्ञान' आत्मा में ही उत्पन्न होता है। 'ज्ञान' को उत्पन्न करने के लिए आत्मा के साथ मन-रूप इन्द्रिय का संयोग आवश्यक है। आत्मा विभु है। अतएव मन के साथ उसका सम्बन्ध तो एक प्रकार से सदैव रहता ही है, किन्तु उस 'संयोग-सम्बन्ध' से ज्ञान नहीं उत्पन्न होता। अर्थ के साथ सन्निकृष्ट इन्द्रिय के साथ जब मन का संयोग होता है, तब उक्त संयोग से युक्त मन के साथ आत्मा का एक नवीन सन्निकर्ष होने पर उस 'आत्मा' में उस अर्थ का ज्ञान उत्पन्न होता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए 'त्वक्' इन्द्रिय के साथ मन का संयोग सदैव रहना आवश्यक है। इस संयोग के बिना ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। अतएव 'पुरीतत्' में जब सुषुप्ति-दशा में मन प्रवेश करता है, तब वहाँ ज्ञान नहीं होता, क्योंकि वहाँ 'त्वगिन्द्रिय' नहीं है।

ऊपर बाह्येन्द्रियों के द्वारा 'सन्निकर्षों' का विचार किया गया है। इसी प्रकार अन्तरिन्द्रिय 'मन' के द्वारा भी सुख, दुःख आदि का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। वहाँ भी ये ही सम्बन्ध होते हैं। सुख, दुःख आदि 'आत्मा' के गुण हैं, अर्थात् ये गुण सब 'आत्मा' में समवाय सम्बन्ध से हैं। अतएव मन का आत्मा के साथ **'संयोग'**, आत्मा के गुणों के साथ **'संयुक्त-समवाय'**, उन गुणों में रहने वाली 'जातियों' के साथ **'संयुक्त-समवेत-समवाय'** तथा आत्मा में 'सुखाभाव' आदि का **'विशेषण-विशेष्य-भाव'** सन्निकर्ष के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

मानसिक सन्निकर्ष

अभी तक जिस प्रत्यक्ष प्रमाण का विचार किया गया है, वह **'लौकिक सन्निकर्षों'** से उत्पन्न प्रत्यक्ष ज्ञान के सम्बन्ध में है। इनके अतिरिक्त विशेष ज्ञान के लिए तर्क-शास्त्र में कुछ **'अलौकिक सन्निकर्षों'** का भी विचार किया गया है। उनका भी परिचय यहाँ देना अनुपयुक्त न होगा।

अलौकिक सन्निकर्ष

रसोई घर में धुआँ के साथ आग देखी जाती है। अन्यत्र भी अनेक स्थानों में धुआँ के साथ आग देखी जाती है। इस प्रकार अनेक स्थानों में धूम को आग के साथ देखकर तार्किक एक नियम बना लेते हैं कि 'जहाँ धूम है, वहाँ आग है'।

सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति

यहाँ प्रश्न है—कि जहाँ-जहाँ धूम को आग के साथ देखा, वहाँ तो सर्वत्र चक्षु और धूम का 'संयोग' सम्बन्ध है, अतएव उन स्थानों में धूम का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और उसी से आग का भी ज्ञान होता है। परन्तु भूत, भविष्यत् एवं अप्रत्यक्षीभूत वर्तमान धूमों के साथ तो चक्षु का 'संयोग' नहीं होता, फिर सभी धूमों के साथ 'आग' के होने की निश्चित व्याप्ति किस प्रकार स्थिर हो सकती है ? अर्थात् सभी धूमों के साथ चक्षु का सम्बन्ध न होने पर सभी धूमों का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता।

इसके उत्तर में यह कहना है कि प्रथम बार जब एक 'धुआँ' का प्रत्यक्ष ज्ञान 'संयोग' सम्बन्ध से हुआ, उस ज्ञान में 'धुआँ' विशेष्य है और धुआँ में रहने वाला 'सामान्य' या 'जाति', अर्थात् 'धूमत्व' 'प्रकार' या 'विशेषण' है। यहाँ यह ध्यान में रखना है कि जिस समय आँख के साथ 'धुआँ' का 'संयोग सम्बन्ध' हुआ, उसी समय 'धूमत्व' के साथ भी आँख का 'संयुक्त-समवाय-सम्बन्ध' हुआ और 'धूमत्व' का प्रत्यक्ष ज्ञान भी हुआ। यह 'धूमत्व जाति' नित्य है और भूत, भविष्यत् सभी धूमों में विद्यमान है। इस 'धूमत्व जाति' से धूम कभी भी अलग नहीं हो सकता, अतएव रसोई घर

के धूम तथा धूमत्व को आँख से देख कर सभी अविद्यमान धूमों का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान 'धूमत्व' सामान्य के साथ चक्षु का सम्बन्ध होने से होता है। अतएव इस सम्बन्ध को **'सामान्यलक्षणा' प्रत्यासत्ति** (सम्बन्ध) कहते हैं।

दूसरा **अलौकिक सन्निकर्ष** है **'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति'**। लोक में श्रीखण्ड-चन्दन को देखकर 'श्रीखण्ड-चन्दन में बहुत सुगन्धि है', ऐसा ज्ञान होता है। यह ज्ञान चक्षुरिन्द्रिय के साथ श्रीखण्ड-चन्दन के 'संयोग' से होता है। किन्तु 'सुगन्धि' का ज्ञान किस प्रकार हुआ, यह शंका मन में उत्पन्न होती है। चन्दन दूर है, वहाँ से उसकी सुगन्धि घ्राण तक नहीं पहुँच सकती। अतएव यह 'घ्राणज प्रत्यक्ष' नहीं कहा जा सकता।

ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति

इसके समाधान में कहा जाता है कि श्रीखण्ड-चन्दन का ज्ञान तो हमें 'चक्षु' और 'श्रीखण्ड-चन्दन' के संयोग से होता है और 'यह चन्दन है', इस ज्ञान के कारण ही हमें चन्दन की सुगन्ध का भी ज्ञान हो जाता है। अर्थात् चन्दन के ज्ञान से सुगन्ध का भी ज्ञान हो जाता है। यही **'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति'** है।

परन्तु 'सुगन्ध' का ज्ञान तो 'सामान्यलक्षणा' से भी हो जाता है, किन्तु 'सुगन्धत्व' का ज्ञान 'सामान्यलक्षणा' से नहीं होता, क्योंकि सुगन्ध के साथ चक्षु का सन्निकर्ष नहीं होता। तस्मात् सुगन्ध में रहने वाले 'सामान्य' का ज्ञान **'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति'** से होता है। अतएव जहाँ 'सामान्यलक्षणा' से ज्ञान न हो, वहाँ 'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति' को स्वीकार करना आवश्यक है।

'परमाणु' का तथा अन्य परोक्षभूत वस्तुओं का ज्ञान हस्तामलकवत् योगियों को होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान के साधक लौकिक उपायों की आवश्यकता योगियों को नहीं होती। परन्तु उन्हें इन सबका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इस प्रकार के ज्ञान को **'योगज'** प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। योगियों की सिद्धि के प्रभाव से प्रत्यक्ष रूप में ये ज्ञान साधारण या असाधारण सन्निकर्ष के बिना ही होते हैं।[1]

योगज प्रत्यक्ष

अनुमानप्रमाण

जिस वस्तु के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष न हो, वह 'परोक्ष' कहलाती है। जिस चिह्न या प्रक्रिया के द्वारा 'परोक्ष' वस्तु का ज्ञान हो, उसे **'अनुमान'** कहते हैं।

---

[1] द्रष्टव्य भाषापरिच्छेद, कारिका ६३-६६ तथा न्यायमुक्तावली।

'हेतु' या 'चिह्न' या 'लिंग' के 'परामर्श' के द्वारा परोक्ष वस्तु का ज्ञान होता है। इसलिए 'लिंग-परामर्श' को 'अनुमान' कहते हैं।

अनुमान की प्रणाली

जैसे—अपने या दूसरे के रसोई घर में बारबार धुआँ के साथ आग को देखकर देखने वाले के मन में 'जहाँ धुआँ है, वहाँ आग है', इस प्रकार का एक ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इसके बाद वह पुरुष जंगल में कभी जाता है तो उसे पर्वत से निकलता हुआ धुआँ देख पड़ता है। तब उसे स्मरण होता है कि 'जहाँ धुआँ हो, वहाँ आग होती है'। इसके बाद वह उसी पर्वत में पुनः धुएं को देखता है, किन्तु अब वह धुआँ 'यत्र धूमः तत्र वह्निः' इस व्याप्ति से विशिष्ट है। अन्त में वह निर्णय करता है कि 'यहाँ आग है'। यही 'अनुमान' की पूरी प्रणाली है।

इसमें 'धुआँ' **'लिंग'** या **'हेतु'** कहा जाता है। इसी के द्वारा 'साध्य' 'आग' का ज्ञान होता है। 'धुआँ के साथ आग का रहना' एक प्रकार से धुआँ और आग के बीच में एक 'स्वाभाविक सम्बन्ध' को प्रकट करता है। इसी 'स्वाभाविक सम्बन्ध' को **'व्याप्ति'** कहते हैं। व्याप्ति को स्मरण करते हुए दूसरी बार धुआँ को पर्वत में देखने के ज्ञान को **'परामर्श'** या **'लिंगपरामर्श'** कहते हैं। इस अनुमान में 'पर्वत' 'आश्रय' या 'पक्ष' कहा जाता है। 'आग' को 'साध्य' तथा 'धुआँ' को 'लिंग' कहते हैं। 'रसोई-घर' को 'दृष्टान्त' कहते हैं, इसे 'सपक्ष' भी कहते हैं। इसके दो भेद हैं—'अन्वय' और 'व्यतिरेक'। व्यतिरेक अनुमान के उदाहरण को 'विपक्ष' कहते हैं। इस अनुमान का पूरा रूप है, जैसा कि पहले भी कहा गया है—

प्रतिज्ञा—पर्वत में आग है,

हेतु—क्योंकि (पर्वत में) धुआँ है।

दृष्टान्त—जहाँ धुआँ है, वहाँ आग है, जैसे—रसोईघर (अन्वय); जहाँ आग नहीं है, वहाँ धुआँ नहीं है, जैसे जलाशय (व्यतिरेक),

उपनय—इस पर्वत में (व्याप्ति-विशिष्ट) धुआँ है,

निगमन—इसलिए पर्वत में आग है।

इस 'अनुमान' के दो मुख्य अंग हैं—**'व्याप्ति'** और **'पक्षधर्मता'**, अर्थात् व्याप्ति से युक्त 'हेतु' का 'पक्ष' में होना। 'पक्षधर्मता' के ज्ञान को **'परामर्श'** कहते हैं। इस अनुमान में तीन बार 'लिंग' का दर्शन होता है। प्रथम बार धुआँ का दर्शन 'रसोई-

घर में' हुआ, द्वितीय बार 'पर्वत' में और तृतीय बार उसी पर्वत में 'आग से व्याप्त धुआँ' का दर्शन होता है और इसके पश्चात् ही 'अनुमिति' हो जाती है। अतएव **'तृतीयलिंगपरामर्शः अनुमानम्'**—'अनुमान' का लक्षण किया जाता है। उपर्युक्त पाँच अवयवों से युक्त अनुमान के स्वरूप को गौतम ने **'परम न्याय'** कहा है, क्योंकि इन पाँच वाक्यों में चारों प्रमाणों का समावेश है। अर्थात् एक प्रकार से अनुमिति, अर्थात् अनुमान, के द्वारा निर्णीत विषय सभी प्रमाणों के आधार पर निर्भर है।

अनुमान के भेद—एक प्रकार से अनुमान के भेद ऊपर कहे जा चुके हैं। अन्य प्रकार से भी इसके भेद किये जाते हैं, जैसे—

(१) **पूर्ववत्**—'पूर्व', अर्थात् 'पहले', अर्थात् 'कारण'। पहले के अनुसार जो अनुमान हो, अर्थात् 'कारण' से 'कार्य' के अनुमान को **'पूर्ववत्'** अनुमान कहते हैं। जैसे—मेघ को जल से भरा हुआ देखकर 'वृष्टि होगी', ऐसा कोई अनुमान करे तो उसे **'पूर्ववत्'** अनुमान कहेंगे।

(२) **शेषवत्**—'शेष', अर्थात् 'कार्य'। 'कार्य' को देखकर 'कारण' के अनुमान को **'शेषवत्'** कहते हैं। जैसे—नदी में जल के आधिक्य तथा वेग को देखकर 'कहीं वृष्टि हुई होगी', ऐसे अनुमान को 'शेषवत्' कहते हैं।

'शेषवत्' का दूसरा भी अर्थ शास्त्रकारों ने किया है। 'प्रसक्त', अर्थात् सम्भावितों का प्रतिषेध किये जाने पर, अन्य सम्भावित पदार्थ के न रहने पर, जो बच जाय, उसे 'शेष' कहते हैं। इस 'शेष' के द्वारा जो अनुमान किया जाय, वह **'शेषवत्'** अनुमान कहा जाता है। जैसे—विशेष गुण होने के कारण 'शब्द' काल, दिक् तथा मन में नहीं है, श्रोत्रग्राह्य होने के कारण 'शब्द' क्षिति, अप्, तेज, वायु तथा आत्मा का विशेष गुण नहीं हो सकता। शेष बचा 'आकाश', नवम द्रव्य कोई दूसरा है नहीं। अतएव 'शब्द' आकाश का गुण है। यह **'शेषवत्'** अनुमान से सिद्ध होता है।

एक लोटा समुद्र के जल में नमक को पाकर समुद्र के शेष जल में भी नमक है,—ऐसा अनुमान भी **'शेषवत्'** कहा जाता है।

(३) **सामान्यतो दृष्ट**—साधारण रूप से परोक्ष वस्तु का जिसके द्वारा ज्ञान हो, उसे **'सामान्यतो दृष्ट'** अनुमान कहते हैं। जैसे—सूर्य को

प्रातःकाल पूर्व दिशा में देखने के पश्चात् सायंकाल को पुनः पश्चिम दिशा में देखकर अनुमान किया जाता है कि 'सूर्य में गति है'।

एक स्थान में आम के वृक्ष में मञ्जरी को देखकर एक मनुष्य अनुमान करता है कि 'सभी आम के वृक्षों में मञ्जरियाँ हो गयी हैं।' ये सब **'सामान्यतो दृष्ट'** के उदाहरण हैं।

यहाँ यह कह देना उचित होगा कि 'पूर्ववत्', 'शेषवत्' तथा 'सामान्यतो दृष्ट', ये सभी शब्द 'पारिभाषिक' हैं। इनके यथार्थ अर्थ का ज्ञान प्रायः लुप्त हो गया है। इसी लिए सभी दर्शनों में इन शब्दों की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की गयी है। वात्स्यायन ने न्यायभाष्य में दो प्रकार से व्याख्या की है। इससे स्पष्ट है कि वात्स्यायन को तथा अन्य भाष्यकारों को इन शब्दों के वास्तविक अर्थ का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं था।

ऊपर कहा गया है कि 'दृष्टान्त' दो प्रकार का होता है—'अन्वय' तथा 'व्यतिरेक'। इसी कारण अनुमान के भी दो भेद मानते हैं—'अन्वयानुमान' तथा 'व्यतिरेकानुमान'। इनके उदाहरण नीचे दिये हैं—

अन्वय—प्रतिज्ञा—पर्वत में आग है,

हेतु—क्योंकि वहाँ धुआँ है।

दृष्टान्त—जहाँ धुआँ है, वहाँ आग है; जैसे—रसोईघर।

व्यतिरेक—प्रतिज्ञा—पर्वत में आग है,

हेतु—क्योंकि वहाँ धुआँ है।

दृष्टान्त—जहाँ आग नहीं है, वहाँ धुआँ भी नहीं है, जैसे—जलाशय।

'उपनय' और **'निगमन'** वाक्य में विशेष अन्तर नहीं है। एक में भावरूप एवं दूसरे में अभावरूप उपनय वाक्य होते हैं।

हेतु के दोषों से बचने का नियम

'हेतु' के आधार पर ही तो अनुमान होता है। यदि 'हेतु' विशुद्ध हो, दोषों से रहित हो तो अनुमान शुद्ध होता है, अन्यथा वह 'अनुमान' दूषित होता है। और उस हेतु को 'हेत्वाभास' कहते हैं। इसलिए जिस अनुमान में अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों दृष्टान्त हों, उसके 'हेतु' को पाँच नियमों का पालन करना पड़ता है—

(१) **पक्षवृत्ति**—हेतु को 'पक्ष' में रहना चाहिए। जैसे—'धूम' का 'पर्वत' में रहना।

(२) **सपक्षवृत्ति**—हेतु को 'सपक्ष' में रहना चाहिए। जैसे—'धूम' का 'रसोई-घर' में रहना।

(३) **विपक्षाद्व्यावृत्ति**—हेतु को 'विपक्ष' में नहीं रहना चाहिए। जैसे—'धूम' का 'जलाशय' में न रहना।

(४) **अबाधितविषय**—पक्ष में साध्य का अभाव किसी बलवत्तर प्रमाण से प्रमाणित न हो। जैसे—'आग शीतल है, क्योंकि वह द्रव्य है, जैसे—जल'।

इस अनुमान में साध्य है 'शीतल'। उसे 'पक्ष', अर्थात् 'आग' में प्रमाणित करना है। किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा यह 'बाधित' हो जाता है। इसलिए यह अनुमान, अर्थात् हेतु **'बाधितविषय'** हुआ। अनुमान को **'अबाधितविषय'** होना चाहिए।

(५) **असत्प्रतिपक्ष**—किसी अनुमान में जो 'हेतु' हो उसका 'प्रतिपक्ष', अर्थात् विरुद्ध हेतु, जिससे उस अनुमान के साध्य के विपरीत साध्य की सिद्धि हो जाय, न होना चाहिए। जैसे—

शब्द अनित्य है,

क्योंकि वह नित्यधर्म से रहित है। जैसे—घट।

इस अनुमान में हेतु है 'नित्यधर्म से रहित होना।'

इस अनुमान का 'प्रतिपक्ष' होगा—

शब्द नित्य है,

क्योंकि वह 'अनित्यधर्म से रहित है'। जैसे—परमाणु।

हेत्वाभास

जिस किसी अनुमान में 'हेतु' उक्त नियमों का पालन न करे तो वह हेतु 'असत्-हेतु', अर्थात् **'हेत्वाभास'** (=हेतु के समान देखने में तो है, किन्तु वास्तव में हेतु नहीं है) कहलाता है।

हेत्वाभास के भेद—यह 'हेत्वाभास' पाँच प्रकार का है, जैसे—(१) 'असिद्ध', (२) 'विरुद्ध', (३) 'अनैकान्तिक', (४) 'प्रकरणसम' तथा (५) 'कालात्ययापदिष्ट'।

१—**असिद्ध**—'**असिद्ध**' हेत्वाभास उस अनुमान-वाक्य में है, जिसमें हेतु की वास्तविकता, अर्थात् सचाई अनिश्चित हो। इसके तीन निम्नांकित भेद होते हैं—

(क) **आश्रयासिद्ध** या **पक्षासिद्ध**—हेतु को पक्ष में रहना उचित है। किन्तु जहाँ पक्ष ही एक काल्पनिक वस्तु हो, वास्तव में उसका अस्तित्व ही न हो, ऐसे पक्ष में हेतु ही किस प्रकार रह सकता है? इसलिए यहाँ 'पक्ष', जिसे 'आश्रय' (हेतु का आश्रय) भी कहते हैं, असिद्ध है, अर्थात् है ही नहीं। अतएव यह '**आश्रयासिद्ध**' या '**पक्षासिद्ध**' नाम का 'हेत्वाभास' कहलाता है। जैसे—

प्रतिज्ञा—आकाश का कमल सुगन्ध वाला है,

हेतु—क्योंकि (यह) कमल है।

उदाहरण—जो कमल है, वह सुगन्ध वाला है; जैसे—तालाब में उगने वाला कमल।

यहाँ 'आकाश का कमल' **पक्ष** है, 'सुगन्ध वाला होना' **साध्य** है, '(वह) कमल है', **हेतु** है और 'तालाब में उगने वाला कमल' **दृष्टान्त** है। हेतु का पक्ष में रहना आवश्यक है। किन्तु यहाँ 'आकाश का कमल' जो **पक्ष** है, उसी का होना असम्भव है, आकाश में फूल होते ही नहीं। इसलिए उसमें हेतु का रहना भी एक कल्पनामात्र है और इसी लिए वह सुगन्ध वाला भी नहीं हो सकता।

इसी प्रकार—

प्रतिज्ञा—मणि से बना हुआ पर्वत आग वाला है,

हेतु—क्योंकि उसमें (मणि के पर्वत में) धुआँ है।

उदाहरण—जहाँ धुआँ है, वहाँ आग है; जैसे—रसोई-घर में।

यहाँ 'मणि से बना हुआ पर्वत' **पक्ष** है, 'आग वाला होना' **साध्य** है, 'धुआँ का होना' **हेतु** है।

किन्तु 'मणि से बना हुआ पर्वत' वास्तव में है ही नहीं। वह तो केवल काल्पनिक है। इसलिए 'पक्ष' हेतु का आश्रय नहीं हुआ और यह अनुमान **'आश्रयासिद्ध'** नाम के 'हेत्वाभास' से दूषित है।

(ख) **स्वरूपासिद्ध**—जिस अनुमान में हेतु का आश्रय (पक्ष) में रहना सर्वथा असम्भव हो, वह 'स्वरूपासिद्ध' नाम का 'हेत्वाभास' है। जैसे—

प्रतिज्ञा—शब्द अनित्य है,

हेतु—क्योंकि वह (शब्द) आँख से देखा जाता है।

उदाहरण—जो आँख से देखा जाता है, वह अनित्य है, जैसे—घड़ा, पुस्तक, कलम, इत्यादि।

यहाँ 'शब्द' **पक्ष** है, 'अनित्य होना' **साध्य** है, 'आँख से देखा जाना' **हेतु** है और 'घड़ा' आदि **दृष्टान्त** है। यह सभी को मालूम है कि हेतु, अर्थात् 'आँख से देखा जाना' शब्द, अर्थात् पक्ष में नहीं है, क्योंकि शब्द को कोई भी आँख से नहीं देखता। वह तो कान से ही सुना जाता है। इसलिए हेतु का स्वरूप ही असिद्ध है। अतएव यहाँ **'स्वरूपासिद्ध'** नाम का 'हेत्वाभास' है।
दूसरा उदाहरण लीजिए—

प्रतिज्ञा—जलाशय द्रव्य है,

हेतु—क्योंकि उसमें (जलाशय में) धुआँ है।

उदाहरण—जहाँ धुआँ है, वहाँ द्रव्य है, जैसे—सुलगती हुई लकड़ी या रसोईघर।

यहाँ हेतु, अर्थात् धुआँ जल में नहीं है, धुआँ तो आग के साथ रहने के कारण जल में रह ही नहीं सकता। इसलिए यह हेतु **'स्वरूपासिद्ध'** है।

तीसरा उदाहरण भी देखिए—

प्रतिज्ञा—आत्मा अनित्य है,

हेतु—क्योंकि वह उत्पन्न होती है।

उदाहरण—जो उत्पन्न होता है, वह अनित्य है, जैसे—पुस्तक, घड़ा, कलम, आदि।

यहाँ 'उत्पन्न होना' हेतु आत्मा में असम्भव है, क्योंकि आत्मा नित्य है। इसलिए हेतु का स्वरूप ही असिद्ध है।

(ग) **'व्याप्यत्वासिद्ध'**—जिस अनुमान में हेतु का साध्य के साथ 'व्याप्य' (व्याप्त) होना ही असिद्ध हो, वह **'व्याप्यत्वासिद्ध'** नाम का 'हेत्वाभास' है। यह दो प्रकार का है—

एक तो (अ) (हेतु और साध्य के बीच में) व्याप्ति को सिद्ध करने वाले प्रमाण का अभाव होने से और दूसरा, (आ) हेतु में **'उपाधि'** के होने से।

(अ) **व्याप्तिग्राहक प्रमाण के अभाव से**—प्रत्येक अनुमान का एक प्रमुख अंग है—'व्याप्ति'। हेतु और साध्य में 'व्याप्ति' का निश्चय होने पर ही अनुमान किया जा सकता है। 'व्याप्ति' का निर्णय करने के लिए एक 'दृष्टान्त' की आवश्यकता होती है। यह दृष्टान्त वही हो सकता है जिसे वादी और प्रतिवादी दोनों ही स्वीकार करें। 'पर्वत आग वाला है, क्योंकि उसमें धुआँ है।' इस अनुमान में 'रसोईघर' **दृष्टान्त** है। इसी दृष्टान्त के आधार पर धुआँ और आग में 'व्याप्ति' का होना निश्चित किया जाता है। इस 'व्याप्ति' के निश्चित करने में यदि प्रमाण न हो तो वह 'व्याप्ति' अनिश्चित रहेगी और उसके आधार पर अनुमान की भी सिद्धि नहीं हो सकती है। जैसे—बौद्धमत के मानने वाले अनुमान करें कि—

प्रतिज्ञा—शब्द क्षणिक है, अर्थात् एक ही क्षण रहने वाला है,

हेतु—क्योंकि वह सत् है।

उदाहरण—जो सत् है, वह क्षणिक है, जैसे—बादल का एक टुकड़ा।

उपनय—(उपर्युक्त व्याप्ति से युक्त) सत् शब्द में है।

निगमन—इसलिए शब्द क्षणिक है।

इस अनुमान में 'सत् होना' **हेतु** है, 'क्षणिक' **साध्य** है और 'बादल का एक टुकड़ा' **दृष्टान्त** है। इसमें 'सत्' और 'क्षणिक' के बीच में 'व्याप्ति' रहनी चाहिए, जिसे प्रमाणित करने के लिए 'बादल का एक टुकड़ा' के रूप में एक दृष्टान्त दिया गया है। यहाँ 'दृष्टान्त' वही हो सकता है, जिसमें 'सत् और क्षणिक होना' दोनों का ही रहना सिद्ध हो। किन्तु उक्त दृष्टान्त में 'सत् और क्षणिक होना' इन दोनों का ही रहना सिद्ध नहीं है, क्योंकि जितनी वस्तुएँ सत्, अर्थात् विद्यमान हैं, वे तो एक से अधिक क्षणों तक रहनेवाली होती हैं। फिर वे क्षणिक, अर्थात् एक क्षणमात्र रहने वाली कैसे हो सकती हैं? यह तो परस्पर विरुद्ध कथन है। दृष्टान्त के अशुद्ध होने के कारण व्याप्ति का निश्चय नहीं हो सकता और इसलिए अनुमान भी ठीक नहीं हो सकता। अतः उपर्युक्त अनुमान दोष-युक्त है।

(आ) **हेतु में उपाधि के रहने से**—साधारण रूप से सभी अनुमानों में 'साध्य' व्यापक होता है और 'हेतु', अर्थात् साधन व्याप्य होता है। किन्तु जो साध्य का व्यापक हो अथवा साध्य के साथ-साथ उसी तरह व्यापक (सम-व्यापक) हो तथा हेतु का 'अव्यापक' (व्याप्य) हो, वह **'उपाधि'** कहा जाता है। जैसे—

प्रतिज्ञा—पर्वत धुआँ वाला है,

हेतु—क्योंकि उसमें आग है।

उदाहरण—जहाँ आग है, वहाँ धुआँ है, जैसे रसोईघर में।

उपनय—(व्याप्ति से युक्त) आग पर्वत में है,

निगमन—इसलिए पर्वत में धुआँ है।

इस अनुमान में 'आग' हेतु है और 'धुआँ' साध्य है। अच्छे अनुमान के अनुसार साध्य, अर्थात् धुआँ को, व्यापक तथा हेतु,

अर्थात् आग को व्याप्य होना चाहिए। किन्तु ऐसा यहाँ नहीं है। धुआँ कभी भी आग की अपेक्षा अधिक स्थानों में नहीं रह सकता है। यह सर्वदा आग की अपेक्षा व्याप्य ही रहेगा। अब यह देखना है कि वास्तव में यह साधन (हेतु) यहाँ साध्य को सिद्ध कर सकता है या नहीं।

यहाँ 'आग' हेतु है। केवल आग से धुआँ नहीं होता, किन्तु भीगी लकड़ी से युक्त आग से होता है। यहाँ 'भीगी लकड़ी' धुआँ का 'प्रयोजक' है, न कि आग। इसलिए 'भीगी लकड़ी' ही इस अनुमान में **'उपाधि'** है और जिस अनुमान में **'उपाधि'** होती है, वह दोषयुक्त अनुमान है।

'भीगी लकड़ी' धुआँ-रूपी साध्य के साथ-साथ रहनेवाली है। इसलिए यह साध्य-सम (समान) व्यापक है। अर्थात् जहाँ धुआँ है, वहाँ भीगी लकड़ी है और हेतु है 'आग'। भीगी लकड़ी इस हेतु का अव्यापक, अर्थात् व्याप्य है। अर्थात् भीगी लकड़ी की अपेक्षा अधिक स्थानों में रहनेवाली आग है। इस प्रकार **'उपाधि'** का लक्षण 'भीगी लकड़ी' में लगता है।

'उपाधि' का दूसरा उदाहरण देखिए—

मैत्री नाम की किसी स्त्री के सातों पुत्रों को श्याम रंग का देखकर, मैत्री के वर्तमान आठवें गर्भ के सम्बन्ध में कोई अनुमान करता है कि—

प्रतिज्ञा—यह (आठवें गर्भ का जीव) श्याम रंग का है;

हेतु—क्योंकि (यह) मैत्री का पुत्र है।

उदाहरण—जो मैत्री का पुत्र है, वह श्याम रंग का है;
जैसे—एक यह (दिखाकर) पुत्र।

इस अनुमान में 'मैत्री का पुत्र' हेतु है। किन्तु मैत्री-पुत्र होने से ही श्याम होना स्वाभाविक नहीं है। श्याम तो अनेक कारणों से हो सकता है। जैसे—गर्भावस्था में यदि माता शाक भोजन करे तो उसकी वह सन्तान श्याम रंग की होगी। इसके अति-

रिक्त पूर्व-जन्म का कर्म-फल भी श्याम होने का कारण हो सकता है। इसलिए 'शाक आदि अन्न के भोजन का फल' ही यहाँ **'उपाधि'** है। अतएव 'मैत्री का पुत्र' यह हेतु अशुद्ध है और यह अनुमान दोषयुक्त है।

इसी प्रकार—

प्रतिज्ञा—यज्ञ में की गयी हिंसा अधर्म का साधन है,

हेतु—क्योंकि (वह) हिंसा है।

उदाहरण—जहाँ हिंसा है, वहाँ अधर्म का साधन है;
जैसे—यज्ञ के बाहर की गयी हिंसा।

यह नास्तिकों की तरफ से कहा जाता है। इसमें 'हिंसा का होना' हेतु है। 'अधर्म का साधन' है साध्य। यहाँ हेतु अशुद्ध है, क्योंकि 'हिंसा' केवल हिंसा होने ही से अधर्म का साधन नहीं होती, किन्तु 'निषिद्ध' होने से, अर्थात् यज्ञ में निषिद्ध होने से। अर्थात् यज्ञ में निषिद्ध हिंसा का करना अधर्म साधन है। इसलिए 'हिंसा' और 'अधर्म-साधन' इन दोनों में कोई स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है; किन्तु यह तो 'उपाधि' के होने के कारण है। उपाधि तो 'निषिद्ध का होना' है। इसलिए यह अनुमान दूषित है।

२—**विरुद्ध**—जो हेतु साध्य के विपरीत वस्तु को सिद्ध करे, वह **'विरुद्ध'** नाम का 'हेत्वाभास' है। जैसे—

प्रतिज्ञा—शब्द नित्य है,

हेतु—क्योंकि वह उत्पन्न होता है।

उक्त अनुमान में 'उत्पन्न होना' हेतु है और 'नित्य होना' साध्य है।

यह 'उत्पन्न होना' हेतु 'नित्य'-रूपी साध्य का साधक नहीं हो सकता है, क्योंकि जो उत्पन्न होता है, वह अनित्य है। इसलिए यह हेतु 'नित्य'-रूपी साध्य के विपरीत 'अनित्य' को सिद्ध करता है। इसलिए यह **'विरुद्ध'** नाम का 'हेत्वाभास' कहा जाता है।

इसी प्रकार—

प्रतिज्ञा—देवदत्त चलने वाला है,

हेतु—क्योंकि वह एक स्थान से दूसरे स्थान को कभी नहीं जाता।

यहाँ 'एक स्थान से दूसरे स्थान को कभी नहीं जाता' हेतु है। यह हेतु 'चलने वाला'-रूपी साध्य के 'विपरीत-साध्य' 'न चलने वाला' का 'हेतु' होता है। इस प्रकार इस अनुमान का हेतु उक्त साध्य के विपरीत-साध्य का साधक होने के कारण **विरुद्ध** नाम का **'हेत्वाभास'** कहा जाता है।

३—**अनैकान्तिक**—इसका दूसरा नाम **'सव्यभिचार'** है। यह तीन प्रकार का होता है—

(अ) **साधारण अनैकान्तिक**—जो 'हेतु' पक्ष, सपक्ष तथा विपक्ष, इन तीनों में रहे, वह **'साधारण अनैकान्तिक'** नाम का 'हेत्वाभास' कहा जाता है। जैसे—

प्रतिज्ञा—शब्द नित्य है,

हेतु—क्योंकि वह प्रमेय (प्रमा का विषय) है।

यहाँ 'प्रमेय होना' हेतु शब्द-रूपी 'पक्ष' में है, आकाश-रूपी 'सपक्ष' में है तथा घट, पट आदि अनित्य द्रव्य-रूपी 'विपक्ष' में भी है। इस प्रकार यह हेतु **'साधारण अनैकान्तिक'** नाम का 'हेत्वाभास' है। अच्छे हेतु 'विपक्ष' में नहीं रहते।

(आ) **असाधारण अनैकान्तिक**—जो हेतु केवल 'पक्ष' में रहे और 'सपक्ष' तथा 'विपक्ष' में न रहे, वह हेतु **'असाधारण अनैकान्तिक'** नाम का 'हेत्वाभास' है। जैसे—

प्रतिज्ञा—पृथ्वी नित्य है,

हेतु—क्योंकि (वह) गन्ध रखने वाली है।

यहाँ 'गन्ध रखने वाली होना' हेतु है और 'नित्य होना' साध्य है।

यह 'हेतु' केवल पृथ्वी-रूपी 'पक्ष' में है। नित्यरूपी आकाश आदि 'सपक्ष' में तथा जल-रूपी अनित्य द्रव्य जो 'विपक्ष' हैं, उनमें नहीं रहता, इसलिए यह **'असाधारण अनैकान्तिक'** नाम का 'हेत्वाभास' है।

(इ) **अनुपसंहारी**—जिस हेतु में न तो अन्वय दृष्टान्त हो और न व्यतिरेक दृष्टान्त हो, वह **'अनुपसंहारी'** नाम का 'हेत्वाभास' है। जैसे—

प्रतिज्ञा—सभी अनित्य हैं,

हेतु—क्योंकि (वे) प्रमेय हैं।

इस अनुमान में 'प्रमेय होना' हेतु है। यहाँ न तो अन्वय-दृष्टान्त है और न व्यतिरेक-दृष्टान्त, क्योंकि 'सभी' 'पक्ष' में सम्मिलित हैं। दृष्टान्त तो 'पक्ष' से अलग रहने वाला होता है।

४—**प्रकरणसम या सत्प्रतिपक्ष**—जिस हेतु में साध्य के विपरीत को सिद्ध करने का दूसरा हेतु उपस्थित हो, वह **'प्रकरणसम'** या **'सत्प्रतिपक्ष'** नाम का 'हेत्वाभास' है। जैसे—

प्रतिज्ञा—शब्द अनित्य है,

हेतु—क्योंकि इसमें नित्यधर्म नहीं है।

इस अनुमान में हेतु है 'नित्यधर्म का न रहना'। इसी के अनुसार दूसरा भी हेतु यहाँ कहा जा सकता है। जैसे—

प्रतिज्ञा—शब्द नित्य है,

हेतु—क्योंकि इसमें अनित्यधर्म नहीं है। अथवा जैसे—

प्रतिज्ञा—शब्द नित्य है,

हेतु—क्योंकि यह सुनाई देने वाला है। जैसे—शब्दत्व। इसका दूसरा भी हेतु उपस्थित किया जा सकता है। जैसे—

प्रतिज्ञा—शब्द अनित्य है,

हेतु—क्योंकि यह कार्य है, घट के समान।

इस प्रकार के अनुमान में दोनों हेतु समान बल रखने वाले होते हैं। इसलिए आपस में प्रतिपक्षी होने के कारण वे अनुमान के फल को नहीं प्राप्त कर सकते। इस प्रकार यह **'सत्प्रतिपक्ष'** या **'प्रकरणसम'** नाम का 'हेत्वाभास' होता है।

५—**बाधितविषय या कालात्ययापदिष्ट**—वह अनुमान, जिसमें दृढ़ प्रमाणों के द्वारा पक्ष में साध्य का होना बाधित हो, अर्थात् सिद्ध न हो, वह **'बाधितविषय'** या **'कालात्ययापदिष्ट'** नाम के 'हेत्वाभास' से दूषित है। जैसे—

प्रतिज्ञा—आग गरम नहीं है,

हेतु—क्योंकि वह उत्पन्न होती है, जैसे—जल।

यहाँ 'उत्पन्न होना' हेतु है। 'गरम न होना' साध्य है। इस साध्य का पक्ष में होना प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है। सभी प्रत्यक्ष से जानते हैं कि 'आग' गरम होती है।

इसी प्रकार—

प्रतिज्ञा—घड़ा क्षणिक है;

हेतु—क्योंकि वह सत् है।

यहाँ 'सत्' हेतु है और 'क्षणिक' साध्य है। यह साध्य घड़ा-रूपी 'पक्ष' में नहीं है। प्रत्यक्ष देख पड़ता है कि 'घड़ा' एक क्षण से अधिक समय तक स्थिर रहता है। इसलिए इस अनुमान का विषय, अर्थात् साध्य, बाधित है। अतएव यह **'बाधितविषय'** नाम का 'हेत्वाभास' है।

ये ही पाँच प्रकार के 'हेत्वाभास' तर्कशास्त्र में माने जाते हैं।

इन्हीं को उलट-पुलट कर देने से इनके कुछ और भी भेद हो जाते हैं।

इसी प्रकार **'अतिव्याप्ति'** (लक्ष्य से अधिक स्थानों में रहना), **'अव्याप्ति'** (सभी लक्ष्यों में भी न रहना) तथा

'असम्भव' (जिसका लक्ष्य में रहना सर्वथा असम्भव हो), ये तीन दोष 'हेतु' में होते हैं। ये भी इन्हीं हेत्वाभासों के अन्तर्गत हैं।

अतिव्याप्ति—जैसे—

प्रतिज्ञा—यह गाय है,

हेतु—क्योंकि यह पशु है।

यहाँ 'पशु होना' हेतु है और 'गाय' साध्य है। यह हेतु न केवल अपने लक्ष्य 'गाय' में है, किन्तु अन्य जन्तुओं में भी है। इस प्रकार यह 'हेतु' पक्ष, सपक्ष और विपक्ष, सभी में वर्तमान है। इसलिए यह **'साधारण अनैकान्तिक'** या **'अतिव्याप्ति'** नाम का दोष है।

अव्याप्ति—जैसे—

प्रतिज्ञा—यहाँ गाय है,

हेतु—क्योंकि यह काले रंग की है।

यहाँ 'काले रंग की होना' हेतु है। यह हेतु सभी गायों (लक्ष्यों) में तो नहीं है। बहुत सी 'गायें' सफेद और लाल रंग की भी होती हैं। इसलिए यह हेतु **अव्याप्ति** दोष से युक्त है। यह एक प्रकार का 'असिद्ध' हेत्वाभास है, जिसे 'भागासिद्ध' कहते हैं और जो 'स्वरूपासिद्ध' में ही परिगणित होता है।

असम्भव—जैसे—

प्रतिज्ञा—यह गाय है,

हेतु—क्योंकि यह एक खुर वाली है।

यहाँ 'एक खुर वाली होना' हेतु है, जो कि किसी भी गाय में नहीं है। गाय के तो प्रत्येक पैर में दो खुर होते हैं। इसलिए यह अनुमान **'असम्भव'** नाम के दोष से युक्त है। यह भी 'स्वरूपासिद्ध' नाम का 'हेत्वाभास' है।

हेत्वाभासों का आकार—

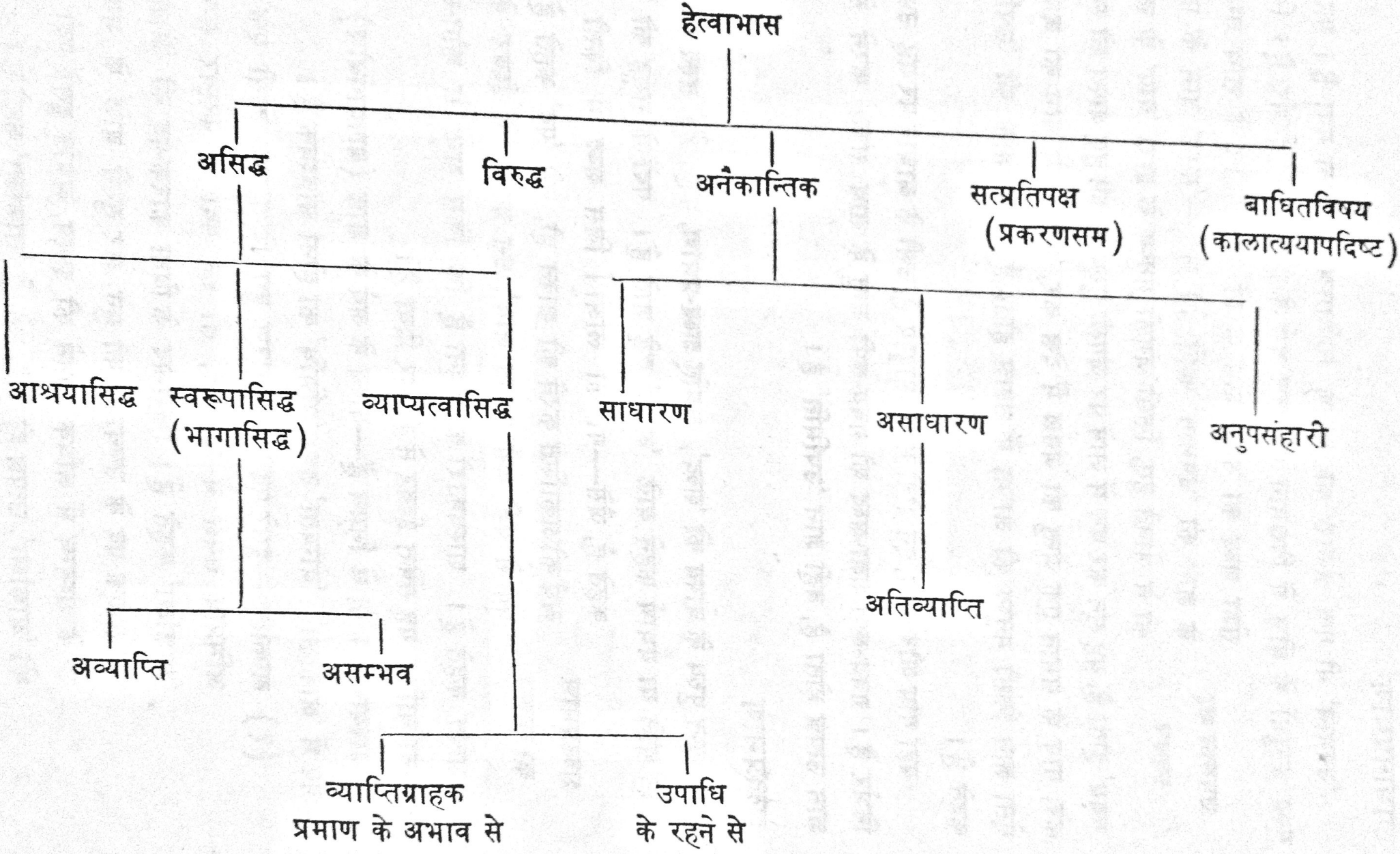
हेत्वाभास
असिद्ध
विरुद्ध
अनैकान्तिक
सत्प्रतिपक्ष (प्रकरणसम)
बाधितविषय (कालात्ययापदिष्ट)
आश्रयासिद्ध
स्वरूपासिद्ध (भागासिद्ध)
व्याप्यत्वासिद्ध
साधारण
असाधारण
अनुपसंहारी
अव्याप्ति
असम्भव
अतिव्याप्ति
व्याप्तिग्राहक प्रमाण के अभाव से
उपाधि के रहने से

उपमानप्रमाण

'उपमान' भी एक प्रकार का प्रमाण तर्कशास्त्र में माना गया है। यह दो मुख्य वस्तुओं के बीच में विद्यमान साधारण धर्म के आधार पर निर्भर है। किसी संज्ञा शब्द का उससे बोध कराने वाले पदार्थ के साथ सम्बन्ध के ज्ञान को **'उपमान'** कहते हैं। जैसे—'गवय' नाम के पदार्थ को न जानते हुए, किसी जंगली मनुष्य के द्वारा 'गाय' के समान **'गवय'** होता है, यह सुन कर वन में जाने पर जंगली पुरुष के कहे हुए वाक्य को स्मरण कर, गाय के समान एक जन्तु को जंगल में देख कर, 'यही गवय नाम का जन्तु है' ऐसा ज्ञान किसी मनुष्य की आत्मा में उत्पन्न होता है। इसी ज्ञान को **'उपमिति'** कहते हैं।

उपमान का स्वरूप

यहाँ गाय और गवय, इन दोनों में जो सादृश्य है, उसी के आधार पर यह 'उपमान' निर्भर है। गवय-रूपी संज्ञा-शब्द को गवय-रूपी जन्तु के साथ संबद्ध करने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वही ज्ञान **'उपमिति'** है।

शब्दप्रमाण

आप्त पुरुष के वाक्य को 'शब्द', अर्थात् **शब्द-प्रमाण,** कहते हैं। तत्त्व को यथार्थ देखने वाले या यथार्थ कहने वाले 'आप्त' कहे जाते हैं। पदों के समूह को 'वाक्य' कहते हैं, जैसे—गौ को लाओ। जिस शब्द में किसी सम्बद्ध अर्थ को प्रकाशित करने की शक्ति हो, उसे 'पद' कहते हैं। 'इस पद से यही अर्थ समझा जाय', इस प्रकार के ईश्वर के संकेत को 'शक्ति' कहते हैं। शास्त्रकारों का कहना है कि किस शब्द से कौन-सा अर्थ समझना चाहिए, यह संकेत ईश्वर ने ही कर दिया है।

शब्दप्रमाण का स्वरूप

वाक्यार्थबोध के ये नियम हैं—वाक्य के अर्थ के ज्ञान (**वाक्यार्थबोध**) के लिए वाक्य में 'आकांक्षा', 'योग्यता' तथा 'सन्निधि' का होना आवश्यक है।

(१) **आकांक्षा**—दूसरे पद के उच्चारण हुए बिना जब किसी एक पद का अभिप्राय समझ में न आवे, तो इन पदों के परस्पर सम्बन्ध को **'आकांक्षा'** कहते हैं। क्रिया-पद के बिना कारक-पद की 'आकांक्षा' है। अर्थात् एक पद के उच्चारण को सुन कर सुनने वाले के मन में जो उसके सम्बन्ध में अधिक जानने की इच्छा, अर्थात् दूसरे पदों को सुनने की 'आकांक्षा', उत्पन्न होती है, उसे ही **'आकांक्षा'** कहते हैं।

वास्तव में यह 'आकांक्षा' तो चैतन्ययुक्त सुनने वाले के मन में होती है, किन्तु यह पद के उच्चारण और श्रवण के कारण उत्पन्न होती है। इसलिए उपचार से शब्दों को आकांक्षा वाला कहा गया है। जैसे—'देवदत्त' यह सुनकर किसी के मन में देवदत्त के सम्बन्ध में अधिक जानने की एक इच्छा उत्पन्न होती है—जिसकी पूर्ति पुनः दूसरे शब्द के उच्चारण के बिना नहीं हो सकती है। जैसे—'जाता है'। 'जाता है', इस पद को सुनकर वह 'आकांक्षा' निवृत्त हो जाती है, क्योंकि इन दोनों पदों से एक सम्बद्ध ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इसलिए ये दोनों पद परस्पर 'साकांक्ष' कहे जाते हैं। केवल कारक-पदों से ही कोई अर्थबोध नहीं होता है। जैसे—पुरुष, गौ, हाथी इत्यादि, क्योंकि इन शब्दों में 'आकांक्षा' नहीं है।

(२) **योग्यता**—पदों के उच्चारण से उनमें परस्पर अर्थ का बोध होने की शक्ति **'योग्यता'** कही जाती है। जैसे 'आग से भूमि सींची जाती है।' इन शब्दों को सुनकर इनसे उत्पन्न जो एक अर्थ होता है, वह बाधित है, अर्थात् ठीक-ठीक अर्थ ज्ञात नहीं होता, क्योंकि सींचना तो जल से होता है, आग से नहीं। इसलिए इन शब्दों में 'योग्यता' नहीं है और ये शब्द 'प्रमाण' नहीं हैं, अर्थात् इन शब्दों से कोई सम्बद्ध ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, किन्तु 'पुस्तक लाओ', ऐसा कहने से एक सम्बद्ध अर्थ का बोध होता है, क्योंकि इन शब्दों में 'योग्यता' है। इसलिए बिना **'योग्यता'** से युक्त वाक्य से शाब्दबोध नहीं होता।

(३) **सन्निधि**—अर्थात् समीपस्थ पदों को बहुत विलम्ब के बिना (अर्थात् एक साथ) उच्चारण करना **'सन्निधि'** कही जाती है। इसे ही **'आसत्ति'** भी कहते हैं। किसी आप्तवाक्य के द्वारा एक सम्बद्ध अर्थ का ज्ञान 'शब्द-प्रमाण' से होता है। इसलिए यदि एक किसी वाक्य का एक शब्द प्रातः काल, दूसरा शब्द मध्याह्न में और तीसरा शब्द सायंकाल को उच्चारण किया जाय, तो उस वाक्य से कोई सम्बद्ध अर्थ का बोध नहीं हो सकता। किन्तु यदि वे ही पद बिना विलम्ब के एक साथ उच्चारण किये जायँ, तो एक सम्बद्ध अर्थ का बोध हो जायगा, जैसे—'देवदत्त एक गाय लाता है।' ये सभी पद एक साथ उच्चारण किये जाने पर सम्बद्ध अर्थ देते हैं, अन्यथा नहीं। इसलिए **'सन्निधि'** भी शाब्दबोध में आवश्यक है।

(४) **तात्पर्यज्ञान**—इन तीनों के अतिरिक्त **'तात्पर्यज्ञान'** भी पदों से एक सम्बद्ध अर्थ का बोध कराने में कारण होता है। जैसे—भोजन करते हुए कोई मनुष्य **'सैन्धव** ले आओ' ऐसा कहे, तो जब तक सुनने वाले को उन शब्दों का **तात्पर्य** मालूम न हो, तब तक वह ठीक-ठीक यह अर्थ नहीं समझ सकता कि बोलने वाला 'सैन्धव' 'नमक' चाहता है, क्योंकि दाल में नमक की कमी है या 'सैन्धव', अर्थात् सिन्धु देश का घोड़ा, लाने को कहता है, जिसमें भोजन कर शीघ्र किसी आवश्यक कार्य के लिए घोड़े पर जाया जा सके। यह निश्चय तो तभी किया जा सकता है, जब सुनने वाला बोलने वाले का **'तात्पर्य'** समझ सके।

पदों से सम्बद्ध अर्थ के ज्ञान को प्राप्त करने के लिए ये चार बातें आवश्यक हैं। इनके विना शाब्दवोध नहीं होता।

वाक्य दो प्रकार के माने गये हैं—(१) लौकिक एवं (२) वैदिक। **लौकिक वाक्य** यदि आप्तों के मुख से निकले, तब तो प्रमाण है, अन्यथा अप्रमाण है, क्योंकि लोक में सभी आप्त हो नहीं सकते। **वेद-वाक्य** तो ईश्वर-प्रणीत हैं और ईश्वर सर्वदा आप्त हैं। इसलिए वेद-वाक्य सभी प्रमाण हैं।

वाक्यों के भेद

ये चार प्रमाण तर्कशास्त्र में माने जाते हैं। इन्हीं के द्वारा सभी पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है और पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होने से ही तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति होती है और तभी दुःखों से सब दिन के लिए मुक्ति मिलती है। यही दुःखों की चरम समाप्ति या परम सुख की प्राप्ति तर्कशास्त्र का परम ध्येय है। इसी के लिए प्रमाणों का ज्ञान आवश्यक है।

विचारणीय विषय है कि ये **'प्रमाण'** अपने 'प्रामाण्य' के लिए निरपेक्ष हैं अथवा किसी दूसरे पर निर्भर होते हैं। नैयायिकों का कहना है कि जब हमें दूर से जलाशय के चिह्न देख पड़ते हैं, तब वहाँ जल है, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान हमें होता है और तब जल लाने के लिए हम वहाँ जाते हैं। वहाँ जाकर यदि हमें जल मिलता है, तब पूर्व में उत्पन्न हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान निश्चित माना जाता है। अर्थात् प्रमाण स्वयं प्रामाण्य का निर्णय नहीं करता है, वह अपने प्रामाण्य के लिए दूसरे प्रमाण पर निर्भर रहता है। अतएव ये लोग **'परतः प्रामाण्यवादी'** हैं।

प्रमाणों का प्रामाण्य

इसके विरुद्ध में मीमांसकों का कहना है कि जब हमारे चक्षु का घट के साथ सन्निकर्ष होता है, तब वह घट 'ज्ञात' होता है और उस पर 'ज्ञातता' नाम का एक

धर्म उत्पन्न होता है। इस 'ज्ञातता' का प्रत्यक्ष मीमांसक को होता है। अब वे विचार करते हैं कि 'ज्ञातता' धर्म की उत्पत्ति के पूर्व 'ज्ञात' और 'ज्ञान' अवश्य हुआ होगा। तस्मात् **'अर्थापत्ति'** प्रमाण से 'ज्ञातता' के द्वारा उन्हें 'घट' का ज्ञान होता है। इसी ज्ञातता के द्वारा उस ज्ञान के प्रामाण्य का भी निश्चय होता है। अतएव जिससे ज्ञान का ज्ञान हो तथा उसी से उस ज्ञान के प्रामाण्य का भी ज्ञान हो तो वह ज्ञान **'स्वतःप्रमाण'** माना जाता है।

नैयायिक लोग 'ज्ञातता' को **'विषयता'** से पृथक् कोई धर्म नहीं स्वीकार करते और इसीसे 'ज्ञातता' को भी स्वीकार नहीं करते। कदाचित् स्वीकार भी किया जाय तो नैयायिकों का कहना है कि प्रत्येक ज्ञान के लिए एक 'ज्ञातता' की आवश्यकता है, तस्मात् 'ज्ञातता' के ज्ञान के लिए भी एक दूसरी 'ज्ञातता' की अपेक्षा है। इस प्रकार अनवस्था हो जायगी। अतः **परतः प्रामाण्य** ही मानना उचित है।

कार्य-कारणभाव

भारतीय दर्शन में कार्य-कारणभाव का विचार बहुत प्राचीन है। इसके सम्बन्ध में अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न रूप से समय-समय पर विचार किया है। इस सम्बन्ध में विचारणीय विषय है—कार्य और कारण में क्या सम्बन्ध है? 'कार्य' कारण में ही अव्यक्त रूप से वर्तमान रहता है या सर्वथा कारण से भिन्न है और इसकी नयी उत्पत्ति होती है?

दर्शनों में इन प्रश्नों पर भिन्न-भिन्न प्रकार से विचार किया गया है। न्यायमत में अपने दृष्टिकोण के अनुसार स्वभावतः कार्य और कारण में **'अत्यन्त भेद'** है।

असत्कार्य-वाद

इनके मत में 'कार्य' 'कारण' से सर्वथा भिन्न है। वह किसी रूप में कारण में नहीं रहता। उत्पन्न होने के पूर्व कार्य का 'प्राग-भाव' कारण में है तथा नाश होने के पश्चात् उसका 'ध्वंसा-भाव' हो जाता है। परन्तु यह सत्य है कि 'कार्य' 'समवाय-सम्बन्ध' के द्वारा कारण में सदैव रहता है। 'समवाय-सम्बन्ध' नित्य है। तस्मात् जब कभी कार्य उत्पन्न होता है, तब वह 'समवाय-सम्बन्ध' से अपने 'समवायि-कारण' में ही उत्पन्न होता है, अन्यत्र नहीं। इस रहस्य के कारण को नैयायिक नहीं कह सकते। यह उनके क्षेत्र से बाहर की बात है। वे तो इतना ही कह सकते हैं कि यह उन दोनों वस्तुओं का अपना 'स्वभाव' है। घट जब कभी उत्पन्न होता है, तब वह मृत्तिका में ही उत्पन्न

होता है। यह घट और मृत्तिका का अपना 'स्वभाव' है। अतएव ये लोग एक प्रकार से कार्य को अपने समवायि-कारण के साथ नित्य रूप में सम्बद्ध मान कर भी उससे कार्य को सर्वथा भिन्न मानते हैं, अर्थात् इनके मत में कारण और कार्य का सम्बन्ध **'अभेद-सहिष्णु अत्यन्तभेद'** है। इसी कारण ये लोग **'असत्कार्यवादी'** भी कहलाते हैं।

इन बातों से यह स्पष्ट है कि चार्वाकों की तरह नैयायिक लोग भी किसी न किसी अवस्था में 'स्वभाव' की ही शरण लेते हैं। यह तो न्यायमत का दौर्बल्य है, या उसके दृष्टिकोण का फल है कि उत्पत्ति के पूर्व तथा पश्चात् 'कार्य' का अभाव मानते हैं और कारण से अत्यन्त भिन्न होने पर भी 'कार्य' अपने 'समवायि-कारण' से एक नित्यसम्बन्ध के द्वारा सम्बद्ध भी है। यह न्याय के लिए अवश्य रहस्य-पूर्ण है, जिसका समाधान वे नहीं कर सकते। अस्तु, इस बात को ध्यान में रख कर ही हम कारण का विचार यहाँ करते हैं।

कारण का लक्षण

तत्त्व को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उस तत्त्व के कारण को भी समझें। बिना 'कारण' का कोई भी 'कार्य' संसार में नहीं हो सकता। प्रत्येक कार्य के लिए कोई न कोई कारण अवश्य होता है। किसी कार्य के होने के ठीक पहले नियत रूप से जिसका सदैव रहना हो और जो 'अन्यथासिद्ध' न हो, उसे ही **'कारण'** कहते हैं। जैसे—कपड़े को बुन कर तैयार होने के ठीक पहले नियत रूप से रहने वाला 'सूत', बुनने वाला 'जुलाहा' या 'यन्त्र', आदि उस कपड़े के **'कारण'** हैं। इसी प्रकार 'मिट्टी' घड़े का 'कारण' है। अनियत रूप से पहले रहने के कारण मिट्टी को लाने वाला 'बैल या गदहा', जिसका रहना अनियत है, उस घड़े का 'कारण' नहीं हो सकता है।

अन्यथासिद्ध के उदाहरण

मिट्टी के साथ-साथ नियत रूप से रहने वाला 'लाल या पीला' मिट्टी का रंग घड़े के पूर्व में नियत रूप से रहने वाला 'कुम्हार का पिता' आदि घड़े के कारण नहीं हो सकते, क्योंकि इनके बिना भी घड़े की उत्पत्ति हो सकती है। जिसके न रहने पर भी कार्य हो सके, वह 'कारण' नहीं कहा जा सकता। उसे न्यायशास्त्र में **'अन्यथासिद्ध'** कहते हैं। जैसे—घड़ा बनाने के लिए चाक को चलाने वाले दण्ड का 'रूप' तथा दण्ड में रहने वाला 'दण्डत्व सामान्य', इत्यादि। इन सबके न रहने पर भी घड़ा बन जाता है। अर्थात् जिस कार्य की उत्पत्ति के लिए जिसका नियत रूप से पहले रहना नितान्त आवश्यक हो, जिसके न रहने से वह कार्य उत्पन्न ही न हो सके और जो अन्यथासिद्ध न हो, वही **'कारण'** है।

कारण के तीन भेद हैं—(१) समवायि-कारण, (२) असमवायि-कारण तथा (३) निमित्त-कारण। **'समवायि-कारण'** वह कारण है जिस में समवाय-सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न हो। जैसे—सूतों में 'समवाय-सम्बन्ध' से कपड़ा उत्पन्न होता है। अतएव 'सूत' कपड़े का 'समवायि-कारण' हुआ। कपड़ों में समवाय-सम्बन्ध से (कपड़े का) 'रूप' उत्पन्न होता है। अतएव कपड़ा अपने 'रूप' का 'समवायि-कारण' है।

कारण के भेद

सम्बन्ध का विचार

सम्बन्ध दो प्रकार के हैं—संयोग तथा समवाय। दो भाव-द्रव्यों के परस्पर मिलन को संयोग-सम्बन्ध कहते हैं। जैसे—हाथ और कलम का, पुस्तक और मेज का परस्पर एकत्रित होना **'संयोग-सम्बन्ध'** कहा जाता है।

संयोग-सम्बन्ध

वैशेषिक-दर्शन में पृथिवी, जल, तेजस्, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन, ये नौ 'द्रव्य' हैं। इन्हीं द्रव्यों में परस्पर सम्बन्ध होने से 'संयोग' हो सकता है। यह सम्बन्ध अनित्य है।

द्रव्य के भेद

जिन दो पदार्थों में से एक ऐसा हो कि जब तक वह विद्यमान रहे, अर्थात् नष्ट न हो जाय, तब तक वह दूसरे के ही आश्रित होकर स्थित रहे, वे दोनों पदार्थ **'अयुतसिद्ध'** कहे जाते हैं और इन अयुतसिद्धों में **'समवाय-सम्बन्ध'** होता है। जैसे—घड़ा और उसका रूप। 'रूप' जब तक रहेगा, तब तक वह 'घड़े' का आश्रित होकर ही रहेगा, अन्यथा नहीं। 'घड़े' के बिना उस घड़े का 'रूप' साधारण अवस्था में नहीं रह सकता।

अयुतसिद्ध और समवाय-सम्बन्ध

नैयायिकों ने निम्नलिखित जोड़ों को **'अयुतसिद्ध'** कहा है—

(१) अवयव और अवयवी, (२) गुण और गुणी, (३) क्रिया और क्रिया-वान्, (४) जाति और व्यक्ति तथा (५) नित्य-द्रव्य और विशेष। इनके प्रत्येक जोड़े में परस्पर 'समवाय-सम्बन्ध' है।

(१) **अवयव और अवयवी**—जितनी कार्य-वस्तुएँ हैं, सभी में अनेक भाग होते हैं, जो उस कार्य-वस्तु के **'अवयव'** कहे जाते हैं; जैसे—कपड़े में अनेक 'सूत' हैं। वे सभी 'सूत' उनसे उत्पन्न होने वाले कपड़े के **अवयव** कहे जाते हैं, और इन अवयवों से जो वस्तु बने, वह **'अवयवी'** कही जाती है;

जैसे—कपड़ा। सूतों से कपड़ा उत्पन्न होता है, अर्थात् कपड़ा उन सूतों में 'समवाय-सम्बन्ध' से रहता है। 'अवयवी' अवयवों के आश्रित होकर ही रहता है।

यहाँ इतना और जान लेना आवश्यक है कि 'अवयव' 'कारण' है और 'अवयवी' उसका 'कार्य' है। न्याय-वैशेषिक-मत में कारण से कार्य भिन्न होता है। उत्पन्न होने के पूर्व कार्य का उसके कारण में अभाव (=प्राक् अभाव) है। अर्थात् ये लोग 'असत्कार्यवाद' को मानने वाले हैं; जैसा पहले कहा जा चुका है।

उत्पत्ति के पूर्व कार्य का कारण में अभाव रहने पर भी उस 'कारण' में उस कार्य की उत्पत्ति की **'योग्यता'** ये लोग मानते हैं और इन दोनों में, अर्थात् कारण और कार्य में, एक नित्य सम्बन्ध है, जिसे 'समवाय-सम्बन्ध' कहते हैं। इसलिए 'सूत' कपड़े का **'समवायि-कारण'** है।

(२) **गुण और गुणी**—'गुण' जिसमें रहे उसे 'गुणी' कहते हैं। 'गुण' बिना 'गुणी' के आश्रित हुए नहीं रह सकता। अतएव ये दोनों **'अयुत-सिद्ध'** हैं। 'गुण' कार्य है और 'गुणी' उस गुण का कारण है। जैसे—नील घड़ा। 'घड़ा' गुणी है, उसमें समवाय-सम्बन्ध से 'नील' गुण उत्पन्न होता है। ये दोनों—'गुण' और 'गुणी', **अयुतसिद्ध** हैं और इन दोनों में **'समवाय-सम्बन्ध'** है।

यहाँ यह ध्यान में रखना है कि न्याय-वैशेषिक-मत में द्रव्य जब उत्पन्न होता है, तो उसमें प्रथम क्षण में कोई भी गुण नहीं रहता। अर्थात् प्रथम क्षण में निर्गुण ही द्रव्य उत्पन्न होता है, दूसरे क्षण में उस द्रव्य में गुण उत्पन्न होता है। यही कारण है कि वह 'द्रव्य' उस 'गुण' का 'कारण' कहा जाता है। 'कारण' को 'कार्य' के पूर्व-क्षण में अवश्य रहना चाहिए। अतएव 'घड़ा' कम से कम एक क्षण के लिए अवश्य निर्गुण रहता है, दूसरे क्षण में उसमें 'नील' गुण उत्पन्न होता है।

(३) **क्रिया और क्रियावान्**—जब तक 'क्रिया' रहती है, वह किसी 'क्रिया वाले', अर्थात् द्रव्य के ही आश्रित होकर रहती है। अतएव 'क्रिया' और 'क्रियावान्'—ये दोनों **'अयुतसिद्ध'** हैं। जैसे—पेड़ का पत्ता और उसका हिलना। 'हिलना' क्रिया है और 'पत्ता' क्रियावान् है। 'हिलनारूप क्रिया'

'पत्तारूप क्रियावान्' के ही आश्रित होकर रह सकती है। इसलिए ये दोनों **अयुतसिद्ध** हैं और इनमें **'समवाय-सम्बन्ध'** है। 'क्रियावान्' द्रव्य ही होता है और वही 'कारण' भी है, और 'क्रिया' उसका 'कार्य' है।

(४) **जाति और व्यक्ति**——एक प्रकार की अनेक वस्तुओं में, जैसे पृथक्-पृथक् रहने वाले अनेक घटों में, 'यह घट है', 'यह घट है', इस तरह एक प्रकार की बुद्धि जिसके कारण से होती है, उसे **'जाति'** या **'सामान्य'** कहते हैं। जैसे——अनेक मनुष्यों में, प्रत्येक में, पृथक्-पृथक् 'यह मनुष्य है,' यह इस प्रकार जो एक तरह की बुद्धि होती है, उसका कारण है कि प्रत्येक मनुष्य के भिन्न होने पर भी प्रत्येक व्यक्ति में एक 'मनुष्यत्व' धर्म है। वही 'मनुष्यत्व' **जाति** है, जो प्रत्येक मनुष्य में वर्तमान रहती है। यह 'जाति' अपने अन्तर्गत के सभी व्यक्तियों में अलग-अलग रहती है। 'व्यक्ति' के बिना 'जाति' रह नहीं सकती। 'जाति' नित्य है और 'व्यक्ति' अनित्य है। ये दोनों **'अयुतसिद्ध'** हैं और इन दोनों में **'समवाय-सम्बन्ध'** है।

(५) **विशेष और नित्य-द्रव्य**——तार्किकों के मत में पृथिवी, जल, तेजस् और वायु, इन चारों भूतों के 'परमाणु' तथा आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन, ये नौ 'नित्य-द्रव्य' हैं। अनित्य-द्रव्यों में आपस में भेद करने वाली अनेक वस्तुएँ हैं, परन्तु एकजातीय नित्य-द्रव्यों में परस्पर भेद करने वाली कोई वस्तु नहीं है, जैसे——एक पृथिवी, परमाणु से दूसरे पृथिवी परमाणु, का भेद करनेवाली कोई भी वस्तु नहीं है, परन्तु एक-जातीय होने पर भी हैं तो वे दोनों परमाणु परस्पर भिन्न। इस परिस्थिति में इन नित्य-द्रव्यों में परस्पर भेद करने के लिए न्याय-वैशेषिक-मत में एक **'विशेष'** नाम का भेदक पदार्थ माना गया है। यह **'विशेष'** पदार्थ प्रत्येक नित्य-द्रव्य में भिन्न-भिन्न है। इसकी संख्या अनन्त है। नित्य-द्रव्य से अलग होकर यह **'विशेष'** नहीं रह सकता। अतएव 'विशेष' और 'नित्य-द्रव्य' **'अयुतसिद्ध'** हैं और इनमें **समवाय-सम्बन्ध** है।

असमवायिकारण जो किसी कार्य का कारण हो, अर्थात् जो कार्य के पहले 'नियतरूप से रहे' तथा 'अन्यथासिद्ध' न हो तथा 'कार्य' के साथ-साथ उस कार्य के 'समवायि-कारण' में समवाय-सम्बन्ध से रहे, वह उस कार्य का **असमवायिकारण** है। जैसे——कपड़े का समवायि-कारण 'सूत' है और सूतों में परस्पर **'संयोग'** सम्बन्ध है। 'संयोग' गुण है, जो समवाय-सम्बन्ध से 'सूतों' में है।

और 'सूतों के संयोग' के बिना कपड़ा उत्पन्न हो नहीं सकता। इसलिए 'संयोग' कपड़े का 'कारण' भी है, और उन्हीं सूतों में समवाय-सम्बन्ध से 'कपड़ा-रूपी कार्य' भी साथ-साथ वर्तमान है। इस प्रकार सूतों में रहने वाला 'संयोग' उन सूतों से उत्पन्न 'कपड़ा-रूपी कार्य' का **'असमवायिकारण'** है।

इसका दूसरा उदाहरण है—कपड़े के रूप (पटरूप) का असमवायिकारण सूत का रूप (तन्तुरूप) है। किन्तु इसमें उपर्युक्त लक्षण का समन्वय नहीं होता। अतएव **'असमवायिकारण'** का एक दूसरा भी लक्षण है। जैसे—

> कपड़े में 'रूप' उत्पन्न होता है। 'कपड़ा' गुणी है और 'कपड़े का रूप' उस कपड़े का गुण है। गुण और गुणी में समवाय-सम्बन्ध है। 'रूप' कार्य है और 'कपड़ा' (पट) उस रूप का 'समवायिकारण' है। अब विचारणीय है कि इस 'पट-रूप' कार्य का 'असमवायिकारण' क्या है?

उपर्युक्त नियम के अनुसार इस 'रूप' का 'असमवायिकारण' उसे होना चाहिए जो 'रूप' का कारण हो, और उस 'रूप' के समवायिकारण में, अर्थात् 'कपड़े' में, जिसमें 'रूप' समवाय-सम्बन्ध से है, समवाय-सम्बन्ध से रहे। किन्तु ऐसा कोई भी 'गुण' देखने में नहीं आता, फिर 'पट-रूप' का 'असमवायि-कारण' क्या होगा?

इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि उपर्युक्त **'असमवायिकारण'** के लक्षण में थोड़ा परिवर्तन कर देने से ही रूप के असमवायिकारण का ज्ञान हो जायगा।

असमवायिकारण का दूसरा लक्षण

अर्थात् जो किसी कार्य का कारण हो तथा कार्य के साथ-साथ समवाय-सम्बन्ध से उस कार्य के 'समवायिकारण' में अथवा **'समवायिकारण के समवायिकारण'** में समवाय-सम्बन्ध से रहे, वही उस कार्य का **'असमवायिकारण'** है। जैसे 'रूप' का 'समवायिकारण' है 'कपड़ा' और इस कपड़े का 'समवायिकारण' है 'सूत'। अब इस 'रूप'-रूपी कार्य का 'असमवायिकारण' वह है जो 'रूप' के 'समवायिकारण', अर्थात् कपड़े के 'समवायिकारण', अर्थात् 'सूत' में रहे और कपड़े के 'रूप' का कारण भी हो। जैसे—'सूत का रूप'। 'सूत का रूप' कपड़े के 'रूप' का 'कारण' है और कपड़े के रूप के समवायिकारण, अर्थात् 'कपड़ा' के समवायिकारण, अर्थात् 'सूत' में कपड़ा-रूपी समवायिकारण के साथ-साथ समवाय-सम्बन्ध से वर्तमान है। इसलिए 'सूतरूप' 'पटरूप' का **'असमवायिकारण'** है।

'असमवायिकारण' केवल 'गुण' और 'क्रिया' होती है और 'असमवायिकारण' का नाश होने से कार्य का नाश हो जाता है।

निमित्तकारण

समवायिकारण तथा असमवायिकारण, इन दोनों से जो भिन्न कारण हो, अर्थात् कार्य के पूर्व नियत रूप से रहे और अन्यथासिद्ध न हो, वह **'निमित्तकारण'** है।

ये तीनों कारण 'भाव-पदार्थों' में ही होते हैं। 'अभाव' का केवल निमित्तकारण होता है। न कोई पदार्थ समवायसम्बन्ध से 'अभाव' में रहता है और न 'अभाव' ही किसी में समवायसम्बन्ध से रहता है। इसलिए 'अभाव' के समवायि तथा असमवायिकारण नहीं होते।

कारणों की विशषताएँ—कारणों की कुछ विशेषताएँ नीचे दी जाती हैं—

(१) केवल द्रव्य ही समवायिकारण होता है।

(२) गुण और क्रिया ये ही दोनों असमवायिकारण होते हैं।

(३) कभी-कभी समवायिकारण के नाश से, और असमवायिकारण के नाश से तो सदैव, कार्य का नाश होता है।

(४) ईश्वर के सभी 'विशेष-गुण' निमित्तकारण हैं।

(५) अभाव का एकमात्र कारण है—निमित्तकारण।

(६) 'निमित्तकारण' कार्य को उत्पन्न कर उससे पृथक् हो जाता है।

करण—इन तीनों कारणों में कार्य को उत्पन्न करने के लिए जो सबसे अधिक उपकारक हो, वही **'करण'** कहलाता है।

ईश्वर या परमात्मा

सृष्टि और प्रलय ईश्वर की इच्छा से होते हैं, यह न्याय-वैशेषिक का मत है। इस बात को प्रमाणित करने के लिए आगम तथा अनुमान ये ही दो प्रमाण हैं। न्याय तथा वैशेषिक सूत्रों में ईश्वर के सम्बन्ध में जो चर्चा है, वह बहुत ही सन्दिग्ध है। परन्तु बाद के आचार्यों ने तो ईश्वर के अस्तित्व का पूर्ण समाधान किया है। जैसा पूर्व में हमने कहा है, ईश्वर के मानने की आवश्यकता जब हुई, तब उसका विचार किया गया, अन्यथा विचार करने की आवश्यकता ही क्या थी? इससे यह

समझना उचित नहीं है कि ये लोग ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार ही नहीं करते थे और 'नास्तिक' थे।

ईश्वर के विषय में उदयन का मत

अतएव जब बौद्धों के साथ ईश्वर के सम्बन्ध में बहुत विचार हुआ, तब उदयनाचार्य ने 'न्यायकुसुमाञ्जलि' में युक्तियों के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व का प्रतिपादन किया। उदयन का कहना है कि ईश्वर के अस्तित्व में सन्देह करना ही व्यर्थ है, क्योंकि कौन ऐसा मनुष्य है जो किसी न किसी रूप में 'ईश्वर' को न मानता हो? जैसे—उपनिषद् के अनुयायी ईश्वर को 'शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाव' के रूप में; कपिल के अनुयायी 'आदि-विद्वान् सिद्ध' के रूप में; पतञ्जलि के अनुयायी 'क्लेश, कर्म, विपाक, आशय (अदृष्ट) से रहित,' 'निर्माणकाय' के द्वारा संप्रदाय चलाने वाले तथा वेद को अभिव्यक्त करने वाले' के रूप में; पाशुपत मत वाले 'निर्लेप तथा स्वतन्त्र' के रूप में; शैव लोग 'शिव' के रूप में; वैष्णव लोग 'पुरुषोत्तम' के रूप में; पौराणिक लोग 'पितामह' के रूप में; याज्ञिक लोग 'यज्ञपुरुष' के रूप में; सौगत लोग 'सर्वज्ञ' के रूप में; दिगम्बर लोग 'निरावरण' के रूप में; मीमांसक लोग 'उपास्य देव' के रूप में; नैयायिक लोग 'सर्वगुणसम्पन्न पुरुष' के रूप में; चार्वाक लोग 'लोकव्यवहारसिद्ध' के रूप में तथा बढ़ई लोग 'विश्वकर्मा' के रूप में, जिनका पूजन करते हैं, वही तो **'ईश्वर'** हैं।[1]

तथापि निम्नलिखित तर्कों के द्वारा अनुमान से भी पुनः उदयनाचार्य ने **'ईश्वर'** के अस्तित्व को प्रमाणित किया है—

ईश्वर-सिद्धि की युक्तियाँ

(१) घट की उत्पत्ति होती है। वह कार्य है। उसको उत्पन्न करने वाला एक 'कर्ता' होता है। उसी प्रकार यह जगत् भी एक कार्य है। इसका भी कोई एक 'कर्ता' है, वह साधारण पुरुष तो हो नहीं सकता। अतएव इतने बड़े जगत् को उत्पन्न करने वाले को सर्वज्ञ होना चाहिए। वही जगत् का कर्ता सर्वज्ञ **'ईश्वर'** है।

(२) प्रलय-काल में समस्त कार्य-जगत् परमाणु-रूप में आकाश में रहता है। ये परमाणु जड़ हैं। पश्चात् सृष्टि के अवसर पर इन्हीं परमाणुओं के

[1] न्यायकुसुमाञ्जलि, १-१।

आरम्भक संयोग से द्वयणुक आदि के रूप में क्रमशः सृष्टि होती है। परमाणुओं में संयोग उत्पन्न करने के लिए एक 'चेतन' की आवश्यकता होती है। उस समय कोई भी 'चेतन' पदार्थ नहीं है। अतएव **ईश्वर** का अस्तित्व मानना आवश्यक है, जिसकी इच्छा के द्वारा परमाणुओं में एक क्रिया उत्पन्न होती है और पुनः उन परमाणुओं में 'आरम्भक-संयोग' उत्पन्न होता है, फिर सृष्टि होती है। वह चेतन तत्त्व **'ईश्वर'** है।

(३) जगत् का कोई आधार आवश्यक है, अन्यथा इसका पतन हो जायगा। इस प्रकार जगत्-रूप कार्य का नाश करने वाले की भी आवश्यकता है। साधारण लोग इसका नाश नहीं कर सकते। अतएव जगत् को धारण करने वाला तथा नाश करने वाला जो है, वही **'ईश्वर'** है।

(४) इस जगत् में जो कला-कौशल हैं, उन सबका उत्पन्न करने वाला सृष्टि के आदि में कोई अवश्य रहता है, जो प्रलय के पूर्वकाल में विद्यमान सम्प्रदायों को सृष्टि के आरम्भ में पुनः चलावे। सम्प्रदायों को चलाने वाले जो है, वही **'ईश्वर'** है।

(५) वेद को सब तरह से प्रामाणिक तभी मान सकते हैं, जब उसका रचयिता भी सर्वथा प्रामाणिक हो। यही वेद का रचयिता **'ईश्वर'** है, अर्थात् **'ईश्वर'** ने वेद को बनाया। 'ईश्वर' में सबकी श्रद्धा है। अतएव वेद में भी सबकी श्रद्धा है।

(६) श्रुति में भी कहा गया है कि **'ईश्वर'** है।

(७) दो परमाणुओं के सम्मिलन से 'द्वयणुक' उत्पन्न होता है और द्वयणुकों की 'तीन संख्या' से 'अपेक्षाबुद्धि' के द्वारा 'त्र्यणुक' बनता है। प्रलयकाल में 'ईश्वर' को छोड़ कर अन्य कोई चेतन तो है नहीं, जिसकी अपेक्षाबुद्धि से संख्या के द्वारा 'त्र्यणुक' बनेगा। अतएव **'ईश्वर'** को मानना आवश्यक है, जिसकी अपेक्षाबुद्धि से 'त्र्यणुक' बना।[1] इन युक्तियों के अतिरिक्त और भी अनेक युक्तियाँ हैं, जिनके द्वारा ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होता है।

---

[1] **कार्यायोजनधृत्यादेः पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः।**
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥—न्यायकुसुमाञ्जलि, ५-१।

आलोचन

इस प्रकार संक्षेप में न्यायशास्त्र का परिचय समाप्त हुआ। इसे पढ़ कर यह मालूम होता है कि इस शास्त्र में व्यावहारिक दृष्टिकोण से तत्त्वों का आलोचन किया गया है। इस मत में नौ नित्य द्रव्य हैं, जिनका नाश कभी नहीं होता। मुक्तावस्था में भी एक आत्मा को दूसरी से पृथक् करने वाला 'मन' भी एक नित्य द्रव्य ही है। इस मन से जीव को कभी भी छुटकारा नहीं मिलता। अनादिकाल से एक जीव का अविद्या के कारण एक किसी मन के साथ संयोग हो गया और वह जीव उस मन के साथ-साथ अनन्त शरीरों में घूमता है। मुक्ति में भी वही मन उस आत्मा के साथ रहता है।

व्यापक होने पर भी इसी मन के साथ सदैव संयोग रखने के कारण वह जीव अव्यापक के समान रहता है। जीवात्मा और परमात्मा, इन दोनों में एक प्रकार से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में निरपेक्ष हैं। 'जीवात्मा' अपने अनादि कर्मों के संस्कार से एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करती रहती है। सभी दुःखों का नाश होने पर वह मुक्त होती है, परन्तु वस्तुतः मन से उसे छुटकारा नहीं मिलता। संसारावस्था और मुक्तावस्था के जीव में भेद इतना ही है कि संसारदशा में उसमें ज्ञान, सुख, दुःख, आदि गुण उत्पन्न होते हैं और मुक्तावस्था में वे नहीं होते। किन्तु यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि मुक्तावस्था के जीव में गुणों की **'स्वरूपयोग्यता'** रहती है। जीव को अन्य द्रव्यों से भी भेद करने वाला संसार में गुणों का अस्तित्व और मुक्ति में गुणों की **'स्वरूपयोग्यता'** ही है। इससे यह भी स्पष्ट है कि एक प्रकार से सांसारिक दशा **'स्वरूपयोग्यता'** के रूप में मुक्त जीव में रहती ही है। यदि अच्छा बीज है, तो उससे अंकुर भी निकल सकता है। उसी प्रकार यदि उस मुक्त जीव को किसी प्रकार शरीर आदि सामग्री मिल जाय, तो 'मुक्त' और 'संसारी' में भेद ही क्या रह जायगा ?

इन्हीं बातों से यह स्पष्ट है कि न्याय-भूमि बहुत नीचे का स्तर है। साधक के लिए गन्तव्य पद अभी भी बहुत दूर है।

अष्टम परिच्छेद

वैशेषिक-दर्शन

वैशेषिक-दर्शन का महत्त्व

न्याय-दर्शन और वैशेषिक-दर्शन, ये दोनों 'समानतन्त्र' हैं, अर्थात् ये परस्पर बहुत मिलते-जुलते हैं। कुछ ही सिद्धान्तों में इन दोनों के मत में भेद है। इनको देखकर ऐसा मालूम होता है कि न्यायशास्त्र की अपेक्षा वैशेषिकशास्त्र कुछ ऊँचे स्तर पर अवश्य है। यद्यपि व्यावहारिकता से वैशेषिकों को भी मुक्ति नहीं मिली है, जगत् की सभी बातों को ये लोग भी नैयायिकों के समान स्वीकार करते हैं, तथापि वैशेषिकों की दृष्टि कुछ सूक्ष्म है, जैसा आगे स्पष्ट होगा। यही कारण है कि न्यायशास्त्र के पश्चात् वैशेषिक-दर्शन का विवेचन किया गया है।

इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि परम तत्त्व को जानने के लिए, अर्थात् दर्शन के चरम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए, अपने दृष्टिकोण से जगत् के सभी पदार्थों का ज्ञान आवश्यक है। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए 'प्रमाणों' की आवश्यकता है। ऐसी स्थिति में यह स्मरण रखना है कि प्रधानता 'प्रमेयों के ज्ञान' की है, 'प्रमाण' तो साधन है। न्यायशास्त्र में 'प्रमाणों के विचार' को प्राधान्य दिया गया है और वैशेषिकशास्त्र में 'प्रमेयों के विचार' को प्राधान्य दिया गया है। इससे वैशेषिक-शास्त्र का विशेष महत्त्व स्पष्ट है।

वैशेषिक-दर्शन का पृथक् वर्गीकरण कब हुआ, यह कहना कठिन है। बौद्धमत के ग्रन्थों में इस दर्शन का उल्लेख मिलता है। जैन-दर्शन में भी इसके पदार्थों की चर्चा है। इन बातों को ध्यान में रखने से यह कहा जा सकता है कि इसका वर्गीकरण बौद्धमत के अवान्तर मतों के वर्गीकरण के पूर्व ही हुआ होगा।

साहित्य

आदि-प्रवर्तक कणाद—इसके आदि प्रवर्तक **'कणाद'**, **'कणभुक्'** या **'कणभक्ष'** थे। इन्होंने सूत्ररूप में, दस अध्यायों में **'वैशेषिक-दर्शन'** नाम के एक ग्रन्थ की रचना की।

रावण

इन सूत्रों पर **'रावण'** ने एक **'भाष्य'** लिखा था। यह ग्रन्थ तो नहीं मिलता, किन्तु ब्रह्मसूत्र-शंकरभाष्य की टीका **'रत्नप्रभा'**[1] में तथा अन्य ग्रन्थों[2] में भी इस भाष्य की चर्चा है। कहा जाता है कि एक कोई **भरद्वाज** ने एक **'वृत्ति'** इस दर्शन पर लिखी थी। यह भी अब नहीं मिलती।

प्रशस्तपाद

छठी सदी के पूर्व **'प्रशस्तपाद'** या **'प्रशस्तदेव'** नाम के एक बड़े विद्वान् हुए। वैशेषिक-दर्शन के कतिपय सूत्रों का उल्लेख करते हुए इन्होंने **'पदार्थधर्मसंग्रह'** नाम का एक सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ को विद्वानों ने 'आकर-ग्रन्थ' के समान आदर दिया। कुछ लोग इसे **'प्रशस्तपादभाष्य'** भी कहते हैं, किन्तु इसमें **'भाष्य'** का लक्षण, **'स्वपदानि च वर्ण्यन्ते'**, नहीं घटता।

यह ग्रन्थ इतना व्यापक हुआ कि इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गयीं, जिनमें तीन मुख्य हैं। दाक्षिणात्य **व्योमशिवाचार्य** ने **'व्योमवती'**, मिथिला देश के रहने वाले **उदयनाचार्य** ने **'किरणावली'** तथा बंगाल के **श्रीधराचार्य** ने **'कन्दली'** नाम की टीका लिखी। इनमें भी **'किरणावली'** सबसे विशेष महत्त्व की व्याख्या है। इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गयीं और इस ग्रन्थ के पढ़ने वालों का भी विद्वन्मण्डली में बहुत आदर होता था।

इसके बाद भी संभवतः वैशेषिक-दर्शन पर अवश्य ग्रन्थ लिखे गये होंगे, किन्तु वे उपलब्ध नहीं हैं।

वल्लभाचार्य

बारहवीं सदी में **वल्लभाचार्य** ने **'न्यायलीलावती'** नाम का ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ पर अनेक व्याख्याएँ लिखी गयीं, जिनमें गंगेश उपाध्याय के पुत्र **वर्द्धमान** का **'प्रकाश'**, **शंकर मिश्र** का **'कण्ठाभरण'** तथा **रघुनाथ शिरोमणि** की **'दीधिति'** बहुत प्रसिद्ध हैं।

---

[1] २-२-११।

[2] **मुरारि मिश्र—अनर्घराघवनाटक—'वैशेषिककटन्दीपण्डितो जगद्विजयमानः पर्यटामि', पञ्चम अंक, पृष्ठ १९१, काव्यमाला-संस्करण।**

शंकर मिश्र

पन्द्रहवीं सदी में वैशेषिकसूत्रों पर मिथिला के प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् **शंकर मिश्र** ने **'उपस्कार'**, बंगाल के जयनारायण भट्टाचार्य ने **'विवृति'** तथा चन्द्रकान्त भट्टाचार्य ने **'भाष्य'** लिखा है। **उपस्कार** सबसे उत्तम ग्रन्थ है। **उपस्कार** के पूर्व भट्ट **वादीन्द्र** ने भी एक **वृत्ति** लिखी थी।

इनके अतिरिक्त **शिवादित्य मिश्र** (१०वीं सदी), **पद्मनाभ मिश्र** (१६वीं सदी), आदि अनेक विद्वान् मिथिला में हुए जिन्होंने वैशेषिक-दर्शन पर साक्षात् तथा परम्परा-रूप में अनेक ग्रन्थ लिखे हैं।

न्याय-वैशेषिक-दर्शन

इस प्रकार न्याय-दर्शन तथा वैशेषिक-दर्शन इन दोनों की परम्परा लगभग पन्द्रहवीं सदी तक स्वतन्त्र रूप से चली आयी। इसके पश्चात् दोनों दर्शनों के विषयों को इकट्ठा कर **'न्याय-वैशेषिक'**- दर्शन के नाम से अनेक ग्रन्थ लिखे गये। इनमें सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है—

विश्वनाथ भट्टाचार्य (१७वीं सदी)

विश्वनाथ भट्टाचार्य-रचित **'भाषापरिच्छेद'** या **'कारिकावली'**। इसकी टीका **'न्यायमुक्तावली'** भी उन्हीं की रचना है। यह ग्रन्थ बहुत व्यापक हुआ और इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गयीं, जिनमें **'दिनकरी'**, **'रामरुद्री'**, **'मंजूषा'**, आदि अति प्रसिद्ध हैं। इसी एकमात्र ग्रन्थ को पढ़कर नव्यन्याय की शैली से लोग परिचित हो जाते हैं।

अन्नम्भट्ट (१७वीं सदी)

अन्नम्भट्ट का **'तर्कसंग्रह'**, **जगदीश भट्टाचार्य** का **'तर्कामृत'**, आदि अनेक छोटे-बड़े ग्रन्थ लिखे गये जिनको प्रारम्भ में लोग पढ़ते हैं।

आजकल न्याय के पढ़ने वाले तो 'नव्यन्याय' को पढ़ते हैं, किन्तु थोड़े में न्याय-शास्त्र के तत्त्वों को जानने के लिए **मुक्तावली** आदि न्याय-वैशेषिक के ग्रन्थों को ही लोग पढ़ते हैं।

वैशेषिक-दर्शन का नामकरण

इस दर्शन को 'वैशेषिक-दर्शन' कहने का कारण प्रायः है—'विशेष' पदार्थ को स्वीकार करना। इस प्रकार का पदार्थ किसी अन्य दर्शन में नहीं है। विद्वन्मण्डली में एक कारिका प्रसिद्ध है—

द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे ।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै 'वैशेषिकं' विदुः ॥

इससे मालूम होता है कि द्वित्वोत्पत्ति, पाकज, विभागज-विभाग, इनमें वैशेषिक का अपना स्वतन्त्र मत है अथवा वैशेषिकों ने ही अपने दर्शन में इन विषयों का विशेष रूप से प्रतिपादन किया है। इन्हीं कारणों से इस दर्शन का 'वैशेषिक' नाम पड़ा। इसके 'कणाद-दर्शन' तथा 'औलूक्य-दर्शन' भी नाम हैं।

पदार्थों का विचार

न्याय और वैशेषिक, ये दोनों समानतन्त्र हैं, अर्थात् ये दोनों एक ही स्तर के दर्शन हैं। ये व्यावहारिक जगत् से विशेष सम्बन्ध रखते हैं। कुछ सिद्धान्तों में तो इनका मतभेद अवश्य है, जिसका निरूपण बाद को हम करेंगे, किन्तु साधारण रूप से इन दोनों में मतभेद नहीं के समान है। यहाँ उनके पदार्थों का संक्षेप में निरूपण करना आवश्यक है।

वैशेषिक-दर्शन प्रधान रूप से 'प्रमेय' का निरूपण करता है, जिस प्रकार न्याय-दर्शन प्रधान रूप से 'प्रमाण' का विचार करता है। वैशेषिक के मत में जगत् की सभी वस्तुएँ सात पदार्थों में बाँटी गयी हैं। वे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव हैं।

पदार्थों के भेद

(१) **द्रव्य**—कार्य के समवायिकारण को **'द्रव्य'** कहते हैं। गुणों का आश्रय 'द्रव्य' होता है। पृथ्वी, जल, तेजस्, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मनस्, ये नौ **'द्रव्य'** कहलाते हैं। इनमें से प्रथम चार द्रव्यों के नित्य और अनित्य, ये दो भेद हैं। नित्य रूप को 'परमाणु' तथा अनित्य रूप को 'कार्य' कहते हैं। चारों भूतों के उस हिस्से को **'परमाणु'** कहते हैं, जिसका पुनः भाग न किया जा सके, अतएव यह नित्य है। पृथ्वी-परमाणु के अतिरिक्त अन्य परमाणुओं के गुण भी नित्य हैं।

जिसमें 'गन्ध' हो, वह **'पृथ्वी'**, जिसमें 'शीत स्पर्श' हो, वह **'जल'**, जिसमें 'उष्ण स्पर्श' हो, वह **'तेजस्'**, जिसमें रूप न हो तथा अग्नि के संयोग से उत्पन्न न होने वाला, अनुष्ण और अशीत 'स्पर्श' हो, वह **'वायु'** तथा 'शब्द' जिसका गुण हो, अर्थात् शब्द का जो समवायिकरण हो, वह **'आकाश'** है। ये पाँच 'भूत' भी कहलाते हैं।

आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा ये चार 'विभु' द्रव्य हैं। 'मनस्' अभौतिक परमाणु है और नित्य भी है। आज, कल, इस समय, उस समय, मास, वर्ष, आदि समय के व्यवहार का जो असाधारण कारण है, वह **'काल'** है। यह नित्य और व्यापक है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण,

आदि दिशाओं तथा विदिशाओं का जो असाधारण कारण है, वह **'दिक्'**, है। यह नित्य तथा व्यापक है। **'आत्मा'** और **'मनस्'** का स्वरूप न्यायमत के समान ही है।

(२) **गुण**—कार्य का असमवायिकारण **'गुण'** है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह (चिकनापन), शब्द, ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार, ये चौबीस **'गुण'** के भेद हैं। इनमें से रूप, गन्ध, रस, स्पर्श, स्नेह, स्वाभाविक द्रवत्व, शब्द तथा ज्ञान से लेकर संस्कार पर्यन्त, ये **'वैशेषिक-गुण'** हैं, अवशिष्ट **'साधारण गुण'** हैं। 'गुण' द्रव्य में ही रहते हैं।

(३) **कर्म**—क्रिया को **'कर्म'** कहते हैं। ऊपर फेंकना, नीचे फेंकना, सिकुड़ना, फैलाना तथा (अन्य प्रकार के) गमन, जैसे भ्रमण, स्पन्दन, रेचन, आदि, ये पाँच **'कर्म'** के भेद हैं। 'कर्म' द्रव्य में ही रहता है।

(४) **सामान्य**—अनेक वस्तुओं में जो एक-सी बुद्धि होती है, उसके कारण को **'सामान्य'** या **'जाति'** कहते हैं। जैसे—अनेक प्रकार के घटों में से प्रत्येक 'घट' में जो 'यह घट है', इस प्रकार की एक-सी बुद्धि होती है, उसका कारण उसमें रहने वाला **'सामान्य'** है, जिसे वस्तु के नाम के आगे 'त्व' लगाकर कहा जाता है, जैसे—घटत्व, पटत्व। 'त्व' से उस जाति के अन्तर्गत सभी व्यक्तियों का ज्ञान होता है।

यह नित्य है और द्रव्य, गुण तथा कर्म में रहता है। अधिक स्थान में रहने वाला सामान्य **'पर-सामान्य'** या **'सत्ता-सामान्य'** या **'पर-सत्ता'** कहा जाता है। **'सत्ता-सामान्य'** द्रव्य, गुण तथा कर्म, इन तीनों में रहता है। प्रत्येक वस्तु में रहने वाला तथा अव्यापक जो सामान्य हो, वह **'अपर-सामान्य'** या **'सामान्य-विशेष'** कहा जाता है। एक वस्तु को दूसरी वस्तु से पृथक् करना **'सामान्य'** का धर्म है।

(५) **विशेष**—द्रव्यों के अन्तिम विभाग में रहने वाला तथा नित्य-द्रव्य में रहने वाला **'विशेष'** कहलाता है। नित्य-द्रव्यों में परस्पर भेद करने वाला एकमात्र यही पदार्थ है। यह अनन्त है।

(६) **समवाय**—एक प्रकार का सम्बन्ध है, जो अवयव और अवयवी, गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान्, जाति और व्यक्ति तथा विशेष और नित्य-द्रव्य के बीच में रहता है। यह एक है और नित्य भी है।

(७) **अभाव**—किसी वस्तु का न होना, उस वस्तु का 'अभाव' कहा जाता है। इसके चार भेद हैं—'प्राग्-अभाव'—कार्य उत्पन्न होने के पहले कारण में उस कार्य का न रहना; 'प्रध्वंस-अभाव'—कार्य के नाश होने पर, उस कार्य का न रहना; 'अत्यन्त-अभाव'—तीनों कालों में जिसका सर्वथा अभाव हो, जैसे—'वन्ध्या का पुत्र' तथा 'अन्योन्य-अभाव'—परस्पर अभाव, जैसे घट में पट का न होना तथा पट में घट का न होना।

ये सभी पदार्थ न्याय-दर्शन के 'प्रमेयों' के अन्तर्गत हैं। इसलिए न्याय-दर्शन में इनका पृथक् विचार नहीं है, किन्तु वैशेषिक-दर्शन में तो मुख्य रूप से इनका विचार है। वैशेषिक-मत के अनुसार इन सातों पदार्थों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने से 'मुक्ति' मिलती है।

दृष्टिकोण

इन दोनों समानतन्त्रों में पदार्थों के स्वरूप में इतना भेद रहने पर भी दोनों दर्शन एक में ही मिले रहते हैं, इसका कारण है कि दोनों शास्त्रों का मुख्य प्रमेय है 'आत्मा'। 'आत्मा' का स्वरूप दोनों दर्शनों में एक-सा ही है। अन्य विषय हैं—उसी 'आत्मा' के जानने के लिए उपाय। उसमें इन दोनों दर्शनों में कुछ भी भेद नहीं है। जिन अंशों में भेद है, वे गौण हैं तथा उनके सम्बन्ध में दोनों दर्शनों में विशेष अन्तर भी नहीं है। केवल शब्दों में तथा कहीं-कहीं प्रक्रिया में भेद है। फल में भेद कहीं नहीं है। अतएव न्यायमत के अनुसार सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से तथा वैशेषिक दर्शन के अनुसार सात पदार्थों के तत्त्वज्ञान से, दोनों से, एक ही प्रकार की 'मुक्ति' मिलती है। दोनों का दृष्टिकोण भी एक ही है।

परमाणु-कारण-वाद तथा सृष्टि और संहार की प्रक्रिया

प्रलय की अवस्था

न्याय-वैशेषिक-मत में पृथिवी, जल, तेजस् तथा वायु, इन्हीं चार द्रव्यों का कार्य-रूप में भी अस्तित्व है। इन लोगों के मत में सभी कार्य-द्रव्यों का नाश हो जाता है और वे परमाणु-रूप में आकाश में रहते हैं। यही अवस्था 'प्रलय' कहलाती है। इस अवस्था में प्रत्येक जीवात्मा अपने मनस् के साथ तथा पूर्व-जन्मों के कर्मों के संस्कारों के साथ तथा 'अदृष्ट'-रूप में धर्म और अधर्म के साथ विद्यमान रहती है। परन्तु इस समय सृष्टि का कोई कार्य नहीं होता। कारण-रूप में सभी वस्तुएँ

प्रलय में जीवात्मा

उस समय की प्रतीक्षा में रहती हैं, जब जीवों के सभी 'अदृष्ट' कार्य-रूप में परिणत होने के लिए तत्पर हो जाते हैं। परन्तु 'अदृष्ट' जड़ है, शरीर के न होने से 'जीवात्मा' भी कोई कार्य नहीं कर सकती, 'परमाणु' आदि सभी जड़ हैं, फिर सृष्टि के लिए 'क्रिया' किस प्रकार उत्पन्न हो ?

सृष्टि का कारण तथा उसकी प्रक्रिया

इसके उत्तर में यह जानना चाहिए कि उत्पन्न होने वाले जीवों के कल्याण के लिए परमात्मा में 'सृष्टि करने की इच्छा' उत्पन्न हो जाती है, जिससे जीवों के 'अदृष्ट' कार्योन्मुख हो जाते हैं। परमाणुओं में एक प्रकार की क्रिया उत्पन्न हो जाती है, जिससे एक परमाणु दूसरे परमाणु से संयुक्त हो जाता है। दो परमाणुओं के संयोग से एक 'द्वयणुक' उत्पन्न होता है। पार्थिव शरीर को उत्पन्न करने के लिए जो दो परमाणु इकट्ठे होते हैं, वे पार्थिव परमाणु हैं। वे दोनों उत्पन्न हुए 'द्वयणुक' के समवायिकारण हैं। उन दोनों का 'संयोग' असमवायिकारण है और अदृष्ट, ईश्वर की इच्छा, आदि निमित्त कारण हैं। इसी प्रकार जलीय, तैजस, आदि शरीर के सम्बन्ध में समझना चाहिए।

यह स्मरण रखना चाहिए कि 'सजातीय' दोनों परमाणु मात्र से ही सृष्टि नहीं होती। उनके साथ एक 'विजातीय' परमाणु—जैसे जलीय परमाणु, भी रहता है।[1] जैसे—दो स्त्रियों या दो पुरुषों से सृष्टि नहीं होती है, उसी प्रकार सजातीय दो परमाणुओं से भी सृष्टि नहीं होती। सृष्टिमात्र के लिए सजातीय होते हुए भी विजातीय होना आवश्यक है। नेगेटिव और पॉज़िटिव दो जातीय सजातीय तार से ही विद्युत् उत्पन्न होती है। इसलिए स्थूलभूत, वासना तथा चेतन जीव, इन तीनों के सहारे अवतार तथा अन्य सृष्टि होती है। द्वयणुक में 'अणु' परिमाण है, इसलिए वह दृष्टिगोचर नहीं होता। द्वयणुक से जो कार्य उत्पन्न होगा, वह भी 'अणु' परिमाण का ही रहेगा और वह भी दृष्टिगोचर न होगा। अतएव द्वयणुक से स्थूल कार्य-द्रव्य को उत्पन्न करने के लिए **'तीन संख्या'** की सहायता ली जाती है। न्याय-वैशेषिक में स्थूल द्रव्य, स्थूल द्रव्य या महत् परिमाण वाले द्रव्य से तथा तीन संख्या से उत्पन्न होता है। इसलिए यहाँ 'द्वयणुक' की **तीन संख्या** से स्थूल द्रव्य 'त्र्यणुक या त्रसरेणु' की उत्पत्ति होती है। चार त्र्यणुक से 'चतुरणुक' उत्पन्न होता है। इसी क्रम से पृथिवी तथा पार्थिव द्रव्यों की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार जलीय, तैजस तथा वायवीय द्रव्यों की भी उत्पत्ति होती है। द्रव्य के उत्पन्न होने के पश्चात् उसमें गुणों की भी उत्पत्ति होती है। यही **सृष्टि की प्रक्रिया** है।

---

[1] उमेश मिश्र—कन्सेप्शन ऑफ मैटर, पृष्ठ २६८।

संसार में जितनी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, सभी उत्पन्न हुए जीवों के भोग के लिए ही हैं। अपने पूर्व-जन्म के कर्मों के प्रभाव से जीव संसार में उत्पन्न होता है। एक विशेष प्रकार के कर्मों का भोग करने के लिए एक जीव उत्पन्न होता है। उसी प्रकार भोग के अनुकूल उसके शरीर, योनि, कुल, देश, आदि सभी होते हैं। जब वह विशेष भोग समाप्त हो जाता है, तब उसकी मृत्यु होती है। इसी प्रकार अपने-अपने भोग के समाप्त होने पर सभी जीवों की मृत्यु होती है।

संहार की प्रक्रिया

संहार के लिए भी एक क्रम है। कार्य-द्रव्य में, अर्थात् घट में, प्रहार के कारण उसके अवयवों में एक क्रिया उत्पन्न होती है। उस क्रिया से उसके अवयवों में विभाग होता है, विभाग से अवयवी (घट) के आरम्भक संयोगों का नाश होता है और फिर घट नष्ट हो जाता है। इसी क्रम से ईश्वर की इच्छा से समस्त कार्य-द्रव्यों का एक समय नाश हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि 'असमवायिकारण' के नाश से कार्य-द्रव्य का नाश होता है। कभी 'समवायि-कारण' के नाश से भी कार्य-द्रव्य का नाश होता है।

न्यायमत

ऊपर न्यायमत के अनुसार **'संहार'** की प्रक्रिया कही गयी है। वैशेषिकमत में यष्टि के प्रहार से घट के परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है, उससे उस घट के द्व्य-णुक के दो परमाणुओं के बीच में जो संयोग है उसका नाश होता है। तब द्व्यणुक का नाश होता है, तब 'तीन संख्या' का नाश, पश्चात् त्र्यणुक का नाश, इस क्रम से घट का अन्त में नाश होता है।

वैशेषिकमत

इनका ध्येय है कि बिना कारण के नाश हुए कार्य का नाश नहीं हो सकता। अतएव सृष्टि की तरह संहार के लिए भी 'परमाणु' में ही क्रिया उत्पन्न होती है और परमाणु तो नित्य है, उसका नाश नहीं होता, किन्तु दो परमाणुओं के संयोग का नाश होता है और फिर उससे उत्पन्न द्व्यणुक-रूप कार्य का तथा उसी क्रम से त्र्यणुक एवं चतुरणुक तथा अन्य कार्यों का भी नाश होता है। नैयायिक लोग स्थूल दृष्टि के अनु-सार इतना सूक्ष्म विचार नहीं करते। उनके मत में आघातमात्र से ही एक बारगी स्थूल द्रव्य नष्ट हो जाता है। कार्य-द्रव्य का नाश होने पर उसके गुण नष्ट हो जाते हैं। इसमें भी पूर्ववत् दो मत हैं, जिनका निरूपण 'पाकज-प्रक्रिया' में किया गया है।

ज्ञान का विचार

न्यायमत की तरह वैशेषिकमत में भी 'बुद्धि', 'उपलब्धि', 'ज्ञान' तथा 'प्रत्यय', ये समान अर्थ के बोधक शब्द हैं अन्य दर्शनों में ये सभी शब्द भिन्न-भिन्न

'पारिभाषिक' अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। 'बुद्धि' के अनेक भेद होने पर भी प्रधान रूप से इसके दो भेद हैं—विद्या और अविद्या। **'अविद्या'** के चार भेद हैं—संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय तथा स्वप्न।

अविद्या के भेद

'संशय' तथा **'विपर्यय'** का निरूपण न्याय में किया गया है। वैशेषिकमत में इनके अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। अनिश्चयात्मक ज्ञान को **'अनध्यवसाय'** कहते हैं। जैसे—कटहल को देखकर वाहीक को एवं सास्ना आदि से युक्त गाय को देखकर नारिकेल द्वीपवासियों के मन में शंका होती है कि यह क्या है?

दिन भर कार्य करने से शरीर के सभी अंग थक जाते हैं। उनको विश्राम की अपेक्षा होती है। इन्द्रियाँ विशेष कर थक जाती हैं और मन में लीन हो जाती हैं। फिर मन 'मनोवह-नाड़ी' के द्वारा 'पुरीतत्' नाड़ी में विश्राम के लिए चला जाता है। वहाँ पहुँचने के पहले, पूर्व-कर्मों के संस्कारों के कारण तथा वात, पित्त और कफ, इन तीनों के वैषम्य के कारण, अदृष्ट के सहारे उस समय मन को अनेक प्रकार के विषयों का प्रत्यक्ष होता है, जिसे **स्वप्नज्ञान** कहते हैं।[1] स्वप्न कभी मिथ्या और कभी सत्य भी होता है।[2]

यहाँ इतना ध्यान में रखना चाहिए कि वैशेषिकमत में **'ज्ञान'** के अन्तर्गत ही 'अविद्या' को रखा है और इसी लिए 'अविद्या' को **मिथ्या ज्ञान** कहते हैं। बहुतों का कहना है कि ये दोनों शब्द परस्पर विरुद्ध हैं। जो 'मिथ्या' है, वह 'ज्ञान' नहीं कहा जा सकता और जो 'ज्ञान' है, वह कदापि 'मिथ्या' नहीं कहा जा सकता।

'विद्या' भी चार प्रकार की है—प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति तथा आर्ष। यहाँ यह ध्यान में रखना है कि न्याय में 'स्मृति' को यथार्थज्ञान नहीं कहा है। वह तो ज्ञात का ही ज्ञान है। इसी प्रकार 'आर्ष' ज्ञान भी नैयायिक नहीं मानते। नैयायिकों के 'शब्द' या 'आगम' को 'अनुमान' में तथा 'उपमान' को 'प्रत्यक्ष' में वैशेषिकों ने अन्तर्भूत किया है।

विद्या के भेद

वेद के रचने वाले ऋषियों को भूत तथा भविष्य का ज्ञान प्रत्यक्ष के समान होता है। उसमें इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं रहती। यह **'प्रातिभ (प्रतिभा से उत्पन्न) ज्ञान'** या **आर्ष ज्ञान** कहलाता है। यह ज्ञान विशुद्ध अन्तःकरण वाले जीव में भी कभी-कभी हो जाता है।

आर्ष ज्ञान

---

[1] **प्रशस्तपादभाष्य-बुद्धिनिरूपण।**

[2] **विशेष ज्ञान के लिए उमेश मिश्र—स्वप्नतत्त्वनिरूपण देखिए।**

जैसे—एक पवित्र कन्या कहती है—'कल मेरे भाई आवेंगे' और सचमुच कल उसके भाई आ ही जाते हैं।[1] यह **प्रातिभ ज्ञान** है।

'प्रत्यक्ष' और **'अनुमान'** के विचार में दोनों दर्शनों में कोई भी मतभेद नहीं है, इसलिए पुनः इनका विचार यहाँ नहीं किया गया।

कर्म का बहुत विस्तृत विवेचन वैशेषिक-दर्शन में किया गया है। न्याय-दर्शन में कहे गये 'कर्म' के पाँच भेदों को ये लोग भी उन्हीं अर्थों में स्वीकार करते हैं। कायिक चेष्टाओं को ही वस्तुतः इन लोगों ने 'कर्म' कहा है। फिर भी सभी चेष्टाएँ 'प्रयत्न' के तारतम्य से ही होती हैं। अतएव वैशेषिक-दर्शन में उक्त पाँच भेदों के प्रत्येक के साक्षात् तथा परम्परा में 'प्रयत्न' के सम्बन्ध से कोई 'कर्म' प्रयत्न-पूर्वक होते हैं, जिन्हें **'सत्प्रत्यय-कर्म'** कहते हैं, कोई बिना प्रयत्न के होते हैं, जिन्हें **'असत्प्रत्यय-कर्म'** कहते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे 'कर्म' होते हैं, जैसे पृथिवी आदि महाभूतों में, जो बिना किसी प्रयत्न के होते हैं, उन्हें **'अप्रत्यय-कर्म'** कहते हैं।[2]

इन सब बातों को देखकर यह स्पष्ट है कि वैशेषिकमत में तत्त्वों का बहुत सूक्ष्म विचार है। फिर भी सांसारिक विषयों में न्याय के मत से वैशेषिक बहुत सहमत हैं। अतएव ये दोनों 'समानतन्त्र' कहे जाते हैं।

न्याय-वैशेषिक के मतों में परस्पर भेद

इन दोनों दर्शनों में जिन बातों में भेद है, उनमें से कुछ भेदों का उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है, फिर भी महत्त्वपूर्ण भेदों का पुनः उल्लेख यहाँ किया जाता है[3]—

(१) न्याय-दर्शन में 'प्रमाणों' का विशेष विचार है। प्रमाणों के ही द्वारा तत्त्व-ज्ञान होने से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। साधारण लौकिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर न्यायशास्त्र के द्वारा तत्त्वों का विचार किया जाता है। न्यायमत में सोलह 'पदार्थ' हैं और नौ 'प्रमेय' हैं।

वैशेषिक-दर्शन में 'प्रमेयों' का विशेष विचार है। इस शास्त्र के अनुसार तत्त्वों का विचार करने में लौकिक दृष्टि से दूर भी शास्त्रकार

---

[1] प्रशस्तपादभाष्य—बुद्धिनिरूपण।

[2] प्रशस्तपादभाष्य—बुद्धिनिरूपण।

[3] उमेश मिश्र—कन्सेप्शन ऑफ मैटर, पृष्ठ ३८-५०

जाते हैं। इनकी दृष्टि सूक्ष्म जगत् के द्वार तक जाती है। इसलिए इस शास्त्र में प्रमाण का विचार गौण समझा जाता है। वैशेषिकमत में सात 'पदार्थ' हैं और नौ 'द्रव्य' हैं।

(२) प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द, इन चार प्रमाणों को न्याय-दर्शन मानता है, किन्तु वैशेषिक केवल प्रत्यक्ष और अनुमान इन्हीं, दो प्रमाणों को मानता है। इसके अनुसार 'शब्दप्रमाण' अनुमान में अन्तर्भूत है। कुछ विद्वानों ने इसे स्वतन्त्र प्रमाण भी माना है।

(३) न्याय-दर्शन के अनुसार जितनी इन्द्रियाँ हैं उतने प्रकार के प्रत्यक्ष होते हैं; जैसे—चाक्षुष, श्रावण, रासन, घ्राणज तथा स्पार्शन। किन्तु वैशेषिक के मत में एकमात्र 'चाक्षुष' प्रत्यक्ष ही माना जाता है।

(४) न्याय-दर्शन के मत में 'समवाय' का प्रत्यक्ष होता है, किन्तु वैशेषिक के अनुसार इसका ज्ञान अनुमान से होता है।

(५) न्याय-दर्शन के अनुसार संसार की सभी 'कार्य-वस्तुएँ' स्वभाव से ही छिद्र वाली (Porous) होती हैं। वस्तु के उत्पन्न होते ही उन्हीं छिद्रों के द्वारा उन समस्त वस्तुओं में भीतर और बाहर आग या तेज प्रवेश करता है तथा परमाणु पर्यन्त उन वस्तुओं को पकाता है। जिस समय तेज की कणाएँ उस वस्तु में प्रवेश करती हैं, उस समय उस वस्तु का नाश नहीं होता है। यही अंग्रेजी में Chemical Action कहलाता है। जैसे—कुम्हार घड़ा बनाकर आवें में रखकर जब उसमें आग लगाता है, तब घड़े के प्रत्येक छिद्र से आग की कणाएँ उस घड़े में प्रवेश करती हैं और घड़े के बाहरी और भीतरी सभी हिस्सों को पकाती हैं। घड़ा वैसा का वैसा ही रहता है, अर्थात् घड़े के नाश हुए बिना ही उसमें पाक हो जाता है। इसे ही न्यायशास्त्र में **'पिठरपाक'** कहते हैं।

वैशेषिकों का कहना है कि कार्य में जो गुण उत्पन्न होता है, उसे पहले उस कार्य के समवायिकारण में उत्पन्न होना चाहिए। इसलिए जब कच्चा घड़ा आग में पकने को दिया जाता है, तब आग सबसे पहले उस घड़े के जितने परमाणु हैं, उन सबको पकाती है और उसमें दूसरा रंग उत्पन्न करती है। फिर क्रमशः वह घड़ा भी पक जाता है और उसका रंग भी बदल जाता है। इस प्रक्रिया के अनुसार जब कुम्हार

कच्चे घड़े को आग में पकने के लिए देता है, तब तेज के जोर से उस घड़े का परमाणु पर्यन्त नाश हो जाता है और उसके परमाणु अलग-अलग हो जाते हैं। पश्चात् उनमें रूप बदल जाता है, अर्थात् घड़ा नष्ट हो जाता है और परमाणु के रूप में परिवर्तित हो जाता है और रंग बदल जाता है, फिर उस घड़े से लाभ उठाने वालों के अदृष्ट के कारणवश सृष्टि के क्रम से फिर से बन कर वह घड़ा तैयार हो जाता है। इस प्रकार उन पक्व परमाणुओं से संसार के समस्त पदार्थ, भौतिक या अभौतिक तेज के कारण पकते रहते हैं। इन वस्तुओं में जितने परिवर्तन होते हैं वे सब इसी **'पाकज प्रक्रिया'** (Chemical Action) के कारण होते हैं। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यह 'पाक' केवल पृथिवी और पृथिवी से बनी हुई वस्तुओं में होता है। इसे वैशेषिक **'पीलुपाक'** कहते हैं।[1]

(६) नैयायिक असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, प्रकरणसम तथा कालात्ययापदिष्ट, ये पाँच 'हेत्वाभास' मानते हैं, किन्तु वैशेषिक विरुद्ध, असिद्ध तथा संदिग्ध, ये ही तीन 'हेत्वाभास' मानते हैं।

(७) नैयायिकों के मत में पुण्य से उत्पन्न 'स्वप्न' सत्य और पाप से उत्पन्न 'स्वप्न' असत्य होते हैं, किन्तु वैशेषिक के मत में सभी 'स्वप्न' असत्य हैं।

(८) नैयायिक लोग 'शिव' के भक्त हैं और वैशेषिक 'महेश्वर' या 'पशुपति' के भक्त हैं। आगम-शास्त्र के अनुसार इन देवताओं में परस्पर भेद है।

(९) इनके अतिरिक्त 'कर्म की स्थिति' में, 'वेगाख्य संस्कार' में, 'सखण्डोपाधि' में, 'विभागज विभाग' में, 'द्वित्व संख्या की उत्पत्ति' में, 'विभुओं के बीच अज संयोग में, 'आत्मा के स्वरूप' में, 'अर्थ-शब्द के अभिप्राय में, 'सुकुमारत्व' और 'कर्कशत्व' जाति के विचार में, 'अनुमान के सम्बन्धों' में, 'स्मृति के स्वरूप' में, 'आर्ष-ज्ञान' में तथा 'पार्थिव शरीर के विभागों' में भी परस्पर इन दोनों शास्त्रों में मतभेद हैं।

इस प्रकार ये दोनों शास्त्र कतिपय सिद्धान्तों में भिन्न-भिन्न मत रखते हुए भी परस्पर सम्बद्ध हैं। इनके अन्य सिद्धान्त परस्पर लागू होते हैं।

---

[1] उमेश मिश्र—कन्सेप्शन ऑफ मैटर, पृष्ठ ७५—९२।